एक युग : एक प्रतीक

लेखक की अन्य रचनाएं

लोकगीत—

गिद्धा (१९२६)

दीवा जले सारी रात (१९४१)

मैं हूँ खाना-बदोश (१९४१)

गाये जा हिन्दुस्तान (१९४६)

Meet My People (१९४६)

धरती गाती है (१९४८)

धीरे बहो गंगा (१९४८)

बेला फूले आधी रात (१९४८)

कविता—

धरती दियां वाजां (१९४१)

कहानियाँ—

कुंग-पोश (१९४१)

नये देवता (१९४२)

और बांसुरी बजती रही (१९४६)

चट्टान से पूछ लो (१९४८)

एक युग : एक प्रतीक

देवेन्द्र सत्यार्थी

श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी के आमुख सहित

राजहंस प्रकाशन, दिल्ली

प्रकाशक
सुबुद्धिनाथ
मंत्री, राजहंस प्रकाशन
दिल्ली

पहली बार १९४८
मूल्य
चार रुपये

मुद्रक
अमर चंद्र
राजहंस प्रेस
दिल्ली

श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन को

आमुख
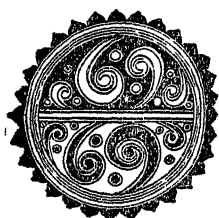
प्रिय सत्यार्थी जी,

आपने जो कठिन प्रश्न पूछे हैं उनसे मेरी बुद्धि विद्या तो लोप ही हो गई है। सच मानिये अगर आप परीक्षक होते और मै परीक्षार्थी होता तो मै अपने अन्य मित्रो के साथ परीक्षा हाल छोड कर उठ गया होता और विश्वविद्यालय प्रश्नपत्र नहीं बदलवाता तो हड़ताल निश्चित थी। लेकिन सौभाग्यवश आप न परीक्षक हैं न मै परीक्षार्थी। आपको यथेच्छ प्रश्न करने का अधिकार है और मुझे यथासम्भव चुप लगा जाने का। आजकल परीक्षक होना कोई हँसी-खेल नहीं है।

यह नीचे से ऊपर तक दूध की धारा के समान धवल ज्योत्स्ना झर रही है, आसमान इतना स्वच्छ है कि क्या बताऊँ। और आप सौन्दर्य तत्व की चर्चा कराना चाहते हैं। सौदर्य ही क्या काफी नही है, सौदर्य के पीछे का रहस्य क्या इतनी ही महत्वपूर्ण वस्तु है कि इस सुन्दर चादनी मे बैठ कर मनुष्य 'न नु'—उच्यते का जप करने लगे ? ऐसी ही तारावली खचित रात्रि को एक बार कालिदास ने देखा था। एक बार क्या रोज ही देखते होगे। वे दिल्ली मे थोड़े ही रहते थे ? उन्होंने देखा था कि रात रोज बढ रही है, ज्योत्स्ना रोज निखर रही है, मेघो का घूँघट हट जाने से चन्द्रमा दिन-दिन मनोज्ञ होता जा रहा है, तारावली नित्य चटकीली होती जा रही है। उन्हें लगा था कि यह तारावली के

अलङ्कारो से भूषितानिर्मल ज्योत्स्ना की साडी पहननेवाली चन्द्रमुखी रजनी किसी किशोरी की भाति नित्य सुन्दर से सुन्दरतर होती जा रही है। उन्होने यह नही सोचा था कि इसका रहस्य क्या है। वे उल्लास के साथ गा उठे थे.—

तारागणप्रवरभूषणमुद्वहन्ती,
मेघावरोधपरिमुक्तशशाकवक्त्रा।
ज्योत्स्ना दुकूलममल रजनी दधाना
वृद्धि प्रयात्यनुदिन प्रमदेव बाला ॥

लेकिन मै जानना चाहता हूँ कि आप क्या इस शोभा से प्रभावित नही होते ? मुझ से आप नहीं छिपा सकते। यह जो गाव-गाव की खाक छानी है वह क्या सिर्फ रहस्य जानने के लिये ? वह और किसी को बताइयेगा। पहली बार दाढी देखकर मैंने ब्रह्मचारीजी को जमीन पर सोने दिया था और स्वय खाट पर सो गया था। दो घण्टे मे ही रहस्य समझ मे आ गया था। बाप रे, उन खटमलो के आक्रमण की बात सोचता हूँ तो आज भी नीद हराम् हो जाती है। तब से कुछ चतुर हो गया हूँ। दाढीवाले ब्रह्मचारियो की बात मै अब तो नही भूलता। आप जो गाव-गाव सौदर्य की तलाश मे घूमते फिरे हैं। उसमे आपके रीझने की बातो का ही पता चलता है। आप सुन्दर के पीछे पागल बनें और उसके रहस्य का पता लगाता फिरूं मै। सो नही होने का। इतने दिनो से अवाक् होकर आपकी कठिन साधना देख रहा हूँ और फिर भी विश्वास कर लूं कि आपको इसका रहस्य नही मालूम ?

मो तें दूरै हौ कहा सजनी,
निहुरै-निहुरै कहुं ऊंट की चोरी।

एक बार मैंने इसके रहस्य को समझने का प्रयत्न किया था। क्या बताऊ। ज्योति ् का चस्का प्रारम्भिक जीवन मेही लग गया था। जब शरत्काल के आकाश को देखता हूँ तो अनुभव होने लगता है कि मैं कितना नगण्य हूँ। ये नक्षत्र न जाने कितने लाख प्रकाश वर्षों मे

छितराये हुए है। सिर पर यह जो आकाश गगा दिखाई दे रही है, जिसमे लाख-लाख नक्षत्रपिण्ड एक साथ सिमटे दिख रहे है--कितनी विराट् है वह। इनमे से कितने ही ऐसे है जिनका प्रकाश आते-आते लाखा वर्ष लग गये है। इनका अर्धरात्रि-वेग इतना प्रचण्ड है कि हमारे ज्ञात जगत् की कोई गति उसके साथ तुलनीय नही है। प्रकाश का वेग ही हमारा जाना हुआ सर्वाधिक प्रचण्ड वेग है। लेकिन वह दूर के बालूकण के समान जो नक्षत्र-पिण्ड दिखाई दे रहे है उनके अर्धरात्रि वेग की समानता नही कर सकता। कितना विशाल चक्र हमारे सिर के ऊपर घूम रहा है और फिर भी कितनी शान्ति के साथ। सोचिये तो भला, हमारा सूर्य इन सब मे छोटा है (यह सूर्य ही हमारी पृथ्वी से कई लाख गुना बडा है)। ज्योतिषियो के हिसाब से इस विचारे की स्थिति बड़ी विचित्र है। ऐसा समझिये कि पर्वतो की जमात मे कोई ढेला है, और फिर एक बार कल्पना कीजिये उस एनर्जी (शक्ति) की जो नित्य हमारे सिर पर बरस रही है। हमारे सूर्य देवता हो प्रति सेकेण्ड इतने टन एनर्जी बखेर रहे हैं जितना साल भर मे इलाहाबाद के पुल के नीचे यमुना मैया पानी ढरका देती है। और फिर सोचिये कि इतने विशाल ब्रह्माण्ड मे सूर्य से लाख गुना बडे लाख-लाख नक्षत्र पिण्ड कितनी शक्ति नित्य छोड़ रहे हैं। किसलिये ? मेरा तो सिर घूम जाता है। यह इतना बड़ा आयोजन किस लिये है ? इस विराट् विश्व मे पृथ्वी कितनी नगण्य वस्तु है, इस पर के ये मनुष्य। हाय हाय, ये जब सेना साज कर विश्व-विजय करने निकलते हैं तो न जाने अपने को क्या समझते है ? क्यो सत्यार्थी जी, आपने चीटियो की लडाइया देखी है ? उनका भी तो कोई विश्व-विजय का लक्ष्य होता होगा, उनके भी तो चर्चिल और हिटलर होते होगे। मनुष्यो की विजय-लालसा क्या उनसे बहुत अधिक बडी होती है ? लेकिन मनुष्य को मै छोटा नही कहता। मै उसके दम्भ को छोटा कहना चाहता हूँ। मनुष्य कैसे छोटा हो सकता है। इतनी सी पृथ्वी पर बैठ कर इतना अदना होते हुए भी वह लाख-लाख प्रकाश वर्षो मे व्याप्त

महान् ब्रह्माण्ड को जान तो रहा है, और भी अधिक जानने को उत्सुक तो है। यह जिज्ञासा क्या मामूली जिज्ञासा है। क्या नहीं मनुष्य अपनी इस महिमा पर जोर देता ?

निस्सन्देह, मनुष्य बहुत कम जानता है, पर वह हार मानने वाला प्राणी नहीं है। और इतना आप गाठ बाध लीजिए कि जिस दिन वह मान लेगा कि उसने सब रहस्य जान लिये हैं उस दिन वह हार जायगा। रहस्य की जिज्ञासा ठीक है, पर अपनी जानकारी को ही सब कुछ मान लेना ठीक नहीं है। मुझे कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की वह कविता याद आरही है जिसमे उन्होंने पर्दानशीन नयी बहू के रूप मे इस उत्सुक मनुष्य को देखा है। मनुष्य उस नयी बहू के समान है जो अधखुली खिडकी से, घूँघट की ओट से बाहर के जगत् को देख रही है। उसके सामनेवाले रास्ते मे लोग आते जाते नजर आ जाते हैं। पर क्यो आते है, क्यो जाते है, इसका उसे कोई रहस्य नहीं मालूम। वह बहुत थोडा देखने का अवसर पा सकी है। वह सम्पूर्ण की जानकारी से वंचित है। आने-जाने वालो की इस प्रकार चेष्टायें उसके लिए केवल रहस्य है। कवि ने पूछा है कि यदि आधी आ जाय, यह खिडकी खुल जाय, यह सिर पर का आवरण हट जाय और यह नयी बहू खुले जगत् के समस्त निरावृत्त सत्य के आमने-सामने खडी हो जाय तो क्या सोचेगी वह! मनुष्य यदि किसी दिन निरावृत सत्य को देख पाता! कैसी होगी उसकी दशा! मगर मै व्यर्थ ही अपने वाक्यो मे कवि की बातो को समझा रहा हूँ। मूल कविता का साधारण-सा अनुवाद ही क्यो न लिख दू ?

"तुम आधी खुली खिडकी के किनारे खडी हो, नयी बहू हो क्या ? शायद तुम चूडीवाले के इन्तजार मे हो कि वह कब तुम्हारे द्वार पर आयेगा। सामने देख रही हो, धूल उड़ाती हुई बैलगाडी निकल जाती है, भरी नौकाए हवा के जोर से पाल के सहारे बही जा रही है। मै सोच रहा हूँ कि इस आधी खुली खिडकी पर घूंघट की छाया से ढकी हुई तुम्हारी आखा को यह विश्व कैसा दिख रहा होगा। निश्चय ही इस

छायामय विश्व को तुमने स्वप्नो की कल्पनाओ से गढा होगा, शायद किसी नानी के मुह से सुनी हुई परियो की कहानी के साचे मे वह ढला होगा—जिस लोरियो की बनी कहानी का न कोई आदि है न कोई अन्त है !

"मै सोच रहा हूँ कि अचानक एक दिन यदि वैशाख के महीने मे आधी के झोको से नदी लाज शर्म छोड़ कर बन्धनहीन सूने आसमान मे नाच उठे—यदि उसका पागलपन जाग पडे—और फिर उस आधी के झकोरो से तुम्हारे घर की सभी जजीरें खुल जायँ और तुम्हारी आखो पर पड़ा हुआ यह घूघट भी उड जाय · और फिर यह सारा जगत् तीव्र विद्युत् की हँसी हँस कर एक क्षण मे शक्ति का वेश धारण करके तुम्हारे घर मे घुस पड़े और आमने-सामने खड़ा हो जाय, तो फिर कहा रहेगी यह आधे ढके अलस दिवस की छाया, यह खिड़कीवाली दृश्यावली और सपनो सनी कल्पना से गढी हुई माया ? सभी उजड़ जायेंगे !

"सोचता हूँ कि उस समय तुम्हारी घूघट-रहित काली आखो के कोनो मे न जाने किसका प्रकाश कापेगा, अपने आप मे खोये हुए प्राणो के आनन्द मे अच्छा और बुरा सब कुछ डूब जायगा और तुम्हारे वक्षस्थल मे रक्त की तरगिणी उत्ताल नर्तन के साथ नाच उठेगी। फिर तुम्हारे शरीर मे यह कंकण और किंकिणी अपने चचल कम्पनो से कौन-सा सुर बजा देंगी ! आज तुम अपने को आधी ढकी रख कर घर के एक कोने मे खडी होकर न जाने किस माया के साथ इस जगत् को देख रही हो—मै मन ही मन यही सोच रहा हूँ। तुम्हारे रास्ते मे यह जो आवागमन चल रहा है वह निरर्थक खेल सा तुम्हें लग रहा है—छोटे दिन के कामो की कितनी छोटी छोटी हँसी और रुलाइया न जाने कितनी उठती हैं और विलीन हो जाती हैं तुम्हारे चित्त में। ···मै यही सोच रहा हूँ।[1]

---

[1] 'खेया' से।

सो, मनुष्य जो रहस्य की व्याख्या किया करता है वह सब समय सत्य के नजदीक ही नहीं होता। और यह अच्छा ही है कि उसे सब रहस्यो का पता नही है। मगर बलिहारी है उस जादूगर के हुनर की, जिसने इतने बडे रहस्य को इतना सुन्दर बना दिया।

मैने और आपने किसी दिन साथ ही साथ साहित्य क्षेत्र मे प्रवेश किया था। आप शाश्वत मानव चित्त के रस निर्झर का सधान खोजने निकल पडे और मै रटी रटाई बोलियो के माध्यम से कविता का रहस्य समझने लगा। लेकिन शुरू मे ही ज्योतिष की छाया पड जाने से मेरी दृष्टि कुछ अजीब सी धूमिल हो गई थी। मुझे उन तथाकथित बटी-बडी बातो को गम्भीरतापूर्वक न देखने की आदत पड गई है जिन्हे मनुष्य ने लोभवश और मोहवश बडप्पन दे रखा है। मै दुनिया की ऐसी बहुत सी बातो का हॅस के टाल सकता हूॅ जिन्हे साधारणतः पण्डितजन भी महत्वपूर्ण मान लेते हैं। मै बराबर सोचता रहता हूॅ कि अनन्तकाल और अनन्त देश के भीतर यह अत्यन्त तुच्छ मानव जीवन और उसकी चेष्टाएँ बहुत अधिक महत्व की वस्तु नही है। साहित्य के अध्ययन ने इसमे थोडा सुधार भी किया है। मै मनुष्य की उस महिमा को भूल नही सकता जो इस विशाल ब्रह्माड की नाप जोख करने का साहस रखती है। ज्योतिष ने मेरी दृष्टि मे जहा उपेक्षा की धूमिलता दी है वही कविता ने मुझे मनुष्य के हृदय की महिमा समझने की रगोनी भी दी है। मै जानता हूॅ कि इस हृदय से निकला हुआ हर ईट-पत्थर अमूल्य हो जाता है। कविता मे उस हृदय गगा के स्नात नश्वर पदाथो की महिमा व्यक्त होती है। इन कास के फूलो की क्या बिसात है, इन हसो की ध्वनि का क्या मूल्य है, इस कब के ठण्ढे बने हुए राख और धूल के ढेले चन्द्रमा की क्या वुकत है, परन्तु मनुष्य के हृदय के भीतर से एक बार धुल जाने के बाद इनकी कीमत आंकिये। हा, मनुष्य मनुष्य कहाने-लायक होना चाहिए। कालिदास की आखो के रास्ते यहीं शरद् ऋतु किसी दिन उनके विशाल और सरस हृदय मे प्रविष्ट हुई थी। वहा से

स्नात होकर वह जो निकली तो उसमे नववधू की गरिमा आ गई, उतनी ही मोहक, उतनी ही पवित्र, उतनी ही मधुर। यह कास पुष्पो की मनोहर साडी, विकच पद्मोवाला रमणीय मुख, उन्नत हसो की ध्वनिवाले नू-पुर, अधपके धान की बल खाती हुई वल्लरियोवाली गात्रयष्टि'—ये जब एक साथ कालिदास के सरस, निर्मल हृदय मे एकत्र हुई तो उन्होने उल्लास के साथ घोषित किया—लो, यह नव वधू के समान रूपरम्भा शरद् ऋतु आ गई—

काशांशुका विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा,
सोन्मादहंसरवनूपुरनादरम्या।
आपक्वशालिरुचिरानतगात्रयष्टि,
प्राप्ताशरन्नववधूरिव रूपरम्या॥

ज्योतिष आगे बढ गया है, पदार्थ-विद्या दूर तक निकल गई है, वह पृथ्वी सौरमण्डल की पूछ मे बँधी हुई न जाने इस ब्रह्माड का कितना हिस्सा घूम आई है, कविता की आलोचना भी बहुत बढ गई है—पर मनुष्य के निर्मल अन्त.करण से निकली हुई यह काव्य-मदाकिनी आज भी उतनी ही उल्लासदायिनी, उतनी ही सरस और उतनी ही पवित्र है। लाख लाख सहृदया की आखो पर यह विहर चुका है और फिर भाई सत्यार्थीजी,

यह मन्द चलै किन भोरी भटू,
पग लाखनि की अँखिआँ अटकीं।

मै कैसे बताऊ कि मेरी सारी उदासीनताओ को मनुष्य के हृदय की यह सरसता कितने कितने रगों मे रँगा करती है। मै रहस्य समझने के फेर में नहीं पड़ने का। आप यह समझें कि मै अपनी बड़ाई हाक रहा हूँ। मै तो अपने एकागीपन का पचडा सुना रहा हूँ।

और यही कारण है कि मै उन कवियो की कविता का जम के आनन्द ले सकता हूँ जो निस्संग होते हुए भी मनुष्य के हृदय की महिमा को समझते हैं। कालिदास ऐसे ही थे, तुलसीदास ऐसे ही थे और

रवीन्द्रनाथ भी ऐसे ही थे। जहा निस्स गता नहीं मिलती वहा मस्ती अज फक्कडाना लापरवाही भी नही मिलती। जो किये कराये का हिसाब ढोता फिरता है, जो बराबर पीछे की ओर देख कर हाय हाय करता रहता है वह कवि मुझे नही भुला सकता।

मैं समझता हूँ काफी बेकार सी बातें लिख गया हूँ और फिर भी इस कुशलता के साथ कि आपके किसी प्रश्न की पकड मे नही आ सका।

शान्ति-निकेतन, आपका

११-१०-४८ हजारीप्रसाद द्विवेदी
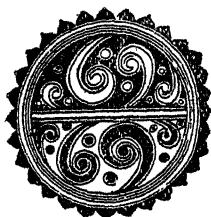
प्रस्तावना

'एक युग . एक प्रतीक' के अनेक निबन्ध रेखाचित्र से सटे हुए हैं। यह दो भिन्न शैलियों के सम्मिश्रण की बात कदाचित कुछ आलोचकोंको आपत्तिजनक प्रतीत हो। मेरे पास इसका एक ही उत्तर है कि यह लेखक की रुचिकी बात है। किसी एक शैली से बंध जाना मुझे कभी रुचिकर नही हुआ। मैं एक सब्जी को दूसरी सब्जी में मिला कर खाने का शौकीन हूं, और जहां तक दही का सम्बन्ध है इसे मै हर सब्जी में मिला कर खाने का समर्थक हूँ। अतः यदि मैने निबन्ध को रेखाचित्र मे मिला दिया है तो इसमे भी मुझे अपराधी न ठहराया जाय।

मुख्य निबन्ध में गुरुदेव के प्रति मैंने एक श्रद्धांजलि अर्पित करने का दायित्व निभाया है। एक से अधिक निबन्धोंमे बापू की चर्चा की गई है। मैं इन निबन्धों की सम्पूर्णता का दावा नहीं करना चाहता।

कुछ निबन्धों मे कला का उल्लेख किया गया है। कला की परख पर मेरा कहां तक अधिकार है, यह बात मैं विशेष आग्रह-पूर्वक नहीं कह सकता। कला के प्रति मेरे हृदय में आकर्षण है,

अनेक कला-वस्तुओ को देखने के लिए मैने परिश्रम किया है, अनेक कलाकारो के साथ मेरा सम्पर्क रहा है, इसीसे मुझे इस सम्बन्ध मे कुछ कहने का साहस हुआ।

'तीन पुस्तके' शीर्षक आलोचना की आधारभूत सामग्री तीन लोकगीत सम्बन्धी पुस्तके है, जिनका मै हिन्दी-साहित्य मे बहुत बडा स्थान मानता हूँ।

कुछ निबन्धों मे भारतीय स्वतन्त्रता के प्रति आस्था प्रकट की गई है। भारत का भविष्य उज्ज्वल है—यह मेरा विश्वास है।

बन्धुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के एक साहित्यिक पत्र का आमुख के रूप मे प्रयोग किया गया है। इसके लिए मै द्विवेदीजी का ऋणी हूँ।

श्रीपुरुषोत्तमदास टण्डन के कर-कमलों मे 'एक युग एक प्रतीक' को समर्पित करते हुए मुझे विशेष हर्ष हो रहा है, क्योंकि राष्ट्रभाषा के समर्थक के रूप मे ही नहीं—हिन्दी साहित्य के अग्रगामी शक्ति-दूत के रूप मे भी उनका स्थान चिर-वन्दनीय रहेगा।

—देवेन्द्र सत्यार्थी

१००, बेयर्ड रोड,
नई दिल्ली,
२५ अक्तूबर, १९४८

सूची

गाधीजी के साथ लेखक
चित्रकार :
केशवराव

एक युग : एक प्रतीक

गुरुदेव की मृत्यु के पश्चात् पहली बार शान्तिनिकेतन गया तो मुझे यों लगा कि आश्रम ने बहुत-कुछ खो दिया। एक बार गुरुदेव ने कहा था, 'कवि-गुरु कालिदास द्वारा वर्णित उन तपोवनों और ऋषि-आश्रमों के लिए मन मे एक प्रबल आकर्षण रहता था। ऐसी किसी प्रबल आकांक्षा ने ही उस कवि-गुरु के दो सहस्र वर्ष के पश्चात उत्पन्न हुए मुझ सरीखे कवि को सजग बनाया।' यों लगा जैसे अब शान्तिनिकेतन ही गुरुदेव का सब से बड़ा स्मारक हो। पुरानी झोपड़ियां तो गुरुदेव के जीवनकाल मे ही उठनी शुरू हो गई थीं। उनके स्थान पर पक्के कमरे बनते चले गये, क्योंकि प्रबन्धकों ने हिसाब लगा कर देख लिया था कि झोपड़ियों की मरम्मत बहुत मंहगी पड़ती है। मुझे वे झोपड़िया ही प्रिय थीं। गुरुदेव का बस चलता तो वे उन्हे कभी न उठने देते। पक्के मकान अधिक सुखकर थे अवश्य, पर वे झोपड़ियों की भांति प्रकृति के चित्रपट से बहुत कम मेल खाते थे। फिर भी वृक्ष तो उसी तरह खड़े थे जिनकी छाया मे गुरु-शिष्य के सम्बन्ध की घनिष्ठता अब भी स्थिर थी। शान्ति-

निकेतन मे मनाये जाने वाले ऋतु उत्सवों की याद ने मुझे पुलकित कर दिया। गुरुदेव ने इन उत्सवों पर नाट्य, सगीत और नृत्य के नये-नये प्रयोग किये थे।

गुरुदेव नही रहे, पर सोचता हूं शान्तिनिकेतन मे कचनार के पेड अब भी खिलते होगे। पलास भी। अपने-अपने खोपे पर कोई न कोई फूल सजाये सन्थाल युवतियां अब भी शान्तिनिकेतन के बीच मे से गुजरने वाली सड़क पर चलती होगी, जैसे उनके लिये सब वैसा ही हो। कोई उन्हे कैसे बताये कि गुरुदेव अब नहीं रहे, जो इस आश्रम के निर्माता थे।

एक बार मैने यो ही गुरुदेव से पूछ लिया, 'क्या यह सम्भव है भाषान्तर मे आपकी रचनाओ का सौंदर्य कायम रहे?'

वे बोले, 'भाषान्तर मे मूल का सौंदर्य बहुत-कुछ नष्ट हो जाता है। मुझे अपनी कविताओं के स्वय अपने हाथो से किये हुए अंगरेजी अनुवाद भी बहुत अधिक पसन्द नहीं।'

मैंने फिर कहा, 'शायद यह इसलिए हो कि अंगरेजी बंगला से एक दम भिन्न भाषा है। हिन्दी तो बगला के बहुत समीप है। हिन्दी मे आपकी कविताओ के अनुवाद अधिक सफल हो सकते हैं।'

वे बोले, 'अनुवाद किसी भी भाषा मे क्यों न किया जाय, आखिर वह अनुवाद ही तो रहता है। मूल कविता का छन्द तो पीछे ही छूट जाता है, और यह बेचारी छन्दहीन कविता अनुवाद मे उस स्त्री की तरह नजर आती है जिसे स्वदेशी वस्त्रो के स्थान पर विदेशी परिधान पहना दिये गये हो।'

मैंने कहा, 'खैर, कविता की तो बात ही अलग है। आपकी कहानियां तो अनुवाद मे भी अपना प्रभाव कायम रखती है। उपन्यास भी।'

'हां, यह ठीक है', वे बोले, 'परन्तु कोई उनका वास्तविक रस

लेना चाहे तो उसे बगला मे ही उन्हे पढ़ना चाहिए।'

आपने बगला का महत्व बहुत बढ़ा दिया है, मैंने कहा, 'मै कई अगरेजों को बंगला सीखते देख चुका हू।'

वे हम कर बोले, 'बंगला कुछ इतनी कठिन थोड़ी है। जब हम अंगरेजी सीख गये तो अगरेज भी बगला सीख सकते है।'

मैंने कहा, 'आपने अगरेजी मे अपनी रचनाओ के अनुवाद प्रस्तुत करके अंगरेजो की दिक्कत बहुत कुछ सहल करदी, नहीं तो न जाने कितने अगरेजों को बंगला सीखने पर मजबूर होना पडता।'

गुरुदेव के समीप जाने पर अनेक बार मैंने अनुभव किया कि मै स्वय हिमालय के सम्मुख खडा हूँ। उनकी स्निग्ध मुसकान अग्रसर होकर सदैव आगतुक का स्वागत करने के लिये तैयार रहती थी। कई बार ऐसा भी होता कि उनके प्राइवेट सैक्रेटरी मुलाकातियो की भीड़-भड़क्का देख कर गुरुदेव के साथ उनकी भेट कराने से सकोच कर जाते। पर स्वय गुरुदेव कभी यह नही चाहते थे कि लोग उनसे भेट न कर सकें। जब भी कोई नया मुलाकाती आता, वे सदैव उसके सम्मुख अपना हृदय खोल कर रख देने के लिए तैयार रहते।

शान्तिनिकेतन मे आये हुए एक यात्री को कई दिन हो गये थे। कुछ दिन उसे अतिथि के रूप मे रसोई से खाना मिलता रहा। फिर कई दिन उसने जेब से पैसे देकर टिकट खरीदना शुरू कर दिया। पर जब उसके पैसे भी खत्म हो गये, वह एक दिन गुरुदेव के पास पहुँचा। गुरुदेव ने पूछा, कोई कष्ट तो नही। किसी चीज की जरूरत हो तो कहो। वह बोला, बस थोडे रुपये चाहिएं जिससे कुछ दिन रसोईघर का टिकट खरीदता रहूं। गुरुदेव हँस कर बोले, ये रसोईघर वाले भी एक दम मूर्ख है। आदमी को तो पहचानते ही नही। मै तो ऐसी भूल नहीं

कर सकता। तुम यहीं आ जाया करो ना। पर इतना याद रहे कि मेरे खाने का ठीक समय क्या है।

गुरुदेव ने एक स्थान पर बंगाल के प्रति असीम स्नेह प्रकट किया है—

बांगलार माटी बांगलार जल
बांगलार हावा बांगलार फल
पुन्य होऊक पुन्य होऊक हे भगवान।

बंगाल की माटी, बंगाल का जल
बंगाल की हवा, बंगाल के फल
पुन्य हो, पुन्य हो, हे भगवान

पर गुरुदेव की प्रतिभा केवल बंगाल की थाती नहीं है। प्रान्तीय सीमाओं को लांघ कर उन्होंने समूचे देश की जन शक्ति का आह्वन करने की मर्यादा अपनाई थी—

सार्थक जनम आमार जन्मेछि ए देशे।
सार्थक जनम मा गो तोमाय भालो वेसे॥
जानिने तोर धन रतन, आछे कि न रानीर मतन।
शुधु जानि आमारे अंग जुड़ाय तोमार छायाय ऐसे॥
कोन बने ते जानिने फूल गन्धे एमन करे आकुल।
कोन गगने ओठे रे चाँद एमन हासि हेसे।
आँखि मेले तोमार आलो, प्रथम आमार चोख जुड़ालो।
ओई आलोतेई नयन रेखो, मूदबो नयन शेषे॥

मेरा जन्म सार्थक है जो इस देश में उत्पन्न हुआ।
मेरा जन्म सार्थक है, ओ माँ, जो मैं तुझे प्यार करता हूँ।
ठीक नहीं जानता कि तेरे पास रानी के समान कितना धन है, कितने रत्न हैं।

बस इतना जानता हूँ कि तेरी छाया में आने पर मेरे अंग-अंग जुड़ा जाते हैं।

ठीक नहीं जानता कि और किसी वन मे फूल अपनी सुगंध से आकुल कर देते हैं। यह भी नही जानता कि और किसी आकाश पर ऐसी हसी हंसने वाला चॉद उठता है। तेरे प्रकाश मे सर्व-प्रथम मैंने ऑखे खोलीं।

बस, उसी आलोक मे ऑखें बिछाये रहूँगा, उसी आलोक मे ऑखे मूद लूगा।

गांधीजी के कथनानुसार गुरुदेव भारत के महान प्रहरी थे। दुनिया की नजरो मे भारत का दरजा ऊंचा उठाने मे वस्तुत वे बहुत सहायक हुए। वे सदैव विश्व प्रेम की ठोस चट्टान पर खडे होकर जन्मभूमि से प्रेम करते रहे।

: २ :

एक युग जा रहा था, एक युग आ रहा था, जब सन् १८६१ मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर का जन्म हुआ। किस प्रकार वे बारह-तेरह वर्ष की अवस्था से ही गद्य-पद्य रचना मे जुट गये, इसका श्रेय कलकत्ता मे जोडासांखो के ठाकुर भवन की शिक्षा-दीक्षा, ऐश्वर्य तथा साहित्यिक चेतना को मिलना चाहिए। गोष्ठियों का क्रम निरन्तर चलता रहता। जाने-अनजाने सम्मेलन बुलाये जाते। अभिनय और संगीत की मजलिस अलग अपनी शान रखती थी। समूचे वातावरण मे कला की प्रेरणा रची हुई थी।

बंगला साहित्य का मूल-स्वर, जो मजीरे और मृदंग के साथ अकेले या दलबद्ध रूप मे 'पंचालिका' अथवा कठपुतली के नाच के साथ गाये जाने वाले 'पॉचाली' गान से आरम्भ होकर देवताओ अथवा देव-तुल्य पुरुषो की महिमा कीर्ति का बखान करने वाले मगल-गान और वैष्णव पदावली को लॉघता हुआ तेरहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दि तक आ पहुँचा था, रवीन्द्रनाथ की वाणी द्वारा एकदम नये सन्देश का वाहक सिद्ध हुआ। सोलहवीं शताब्दी मे मैथिल-कवि विद्यापति ने कृष्णलीला

विषयक अनेक वैष्णव गान प्रस्तुत किये और यह इस कवि का सौभाग्य था कि उसके गान बहुत शीघ्र बंगला मे घर-घर गाये जाने लगे। इनसे प्रभावित होकर अनेक बंगला कवि भी इसी भाषा मे गान रचने का यत्न करने लगे, यहाँ तक कि चंडीदास ने भी बहुत कुछ इसी भाषा को अपनाया। मैथिल मे बंगला का सम्मिश्रण स्वाभाविक था। यह मिश्रित भाषा ब्रज बोली के नाम से प्रसिद्ध हुई। क्योंकि सभी यह कल्पना करते थे कि द्वापर युग मे राधा-कृष्ण इसी भाषा मे वार्तालाप करते होंगे। सोलहवी, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी मे ब्रजबोली बंगाल की वैष्णव गीति कविता का माध्यम बनी रही, हालाकि ब्रजभाषा से इसका कभी कोई सम्बन्ध स्थापित न हो पाया। उन्नसवीं शताब्दी मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी अपनी आरम्भिक कविता 'भानुसिंहरे पदावलि' ब्रज बोली मे ही लिखी और इसे अपने बड़े भ्राता द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा प्रकाशित और अपनी बहन स्वर्णकुमारी द्वारा सम्पादित 'भारती' पत्रिका मे प्रकाशित कराया। इस पदावलि की कुछ पंक्तियाँ रवीन्द्रनाथ को अन्तिम दिनों तक प्रिय रही—

मरण रे, तुहुँ मम श्याम समान
मृत्यु अमृत करे दान
तुहुं मम श्याम समान।

एक युग जा रहा था, एक युग आ रहा था। इसका चित्र स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बड़े मार्मिक शब्दों में अंकित किया है,मेरे जन्म से पहले ही हमारा परिवार समाज के पक्के घाटों से बाहर आकर अपनी नाव बांध चुका था। वहां पर आचार, अनुशासन और क्रिया-कर्म कम थे। हमारा घर बहुत बड़ा था। पुराने जमाने से चला आता था। उसकी ड्योढ़ी पर कुछ जंग लगी हुई थी। तलवार, ढाल, बरछियां झूलती रहती थीं। मकान के अंदर

एक ठाकुरजी का आगन था, अन्य कई आंगन थे, भीतर और बाहर बाग थे, साल भर के लिये गगाजल रखा जा सके, ऐसे बड़े-बडे घड़ो से भरा हुआ एक अंधेरा कमरा था । कभी इस मकान मे पुराने तीज-त्योंहारों का दौर था । मैं तो उसके बाद आया । मैं जब इस मकान मे और इस दुनिया मे आया तो प्राचीन युग का अवसान हो चुका था और नवयुग का पौ फट रहा था । नवयुग तो आया, पर अभी उसका साजो सामान नहीं आया था । इस मकान से जिस प्रकार इस देश के सामाजिक जीवन का स्रोत परे चला गया था, उसी प्रकार पहले का मानसिक स्रोत भी बन्द हो गया था । कभी दादाजी प्रिंस द्वारिकानाथ के ऐश्वर्य की दीवाली यहां विविध शिखाओं मे दीप्यमान थी, पर अब तो केवल जल जाने के बाद के काले दाग थे और राख का ढेर था । हा, एक टिमटिमाती शिखा अब भी जल रही थी । इस परिवार मे जिस प्रकार की स्वतंत्रता उत्पन्न हुई थी, वह उसी तरह की थी, जैसे किसी टापु मे उत्पन्न जानवरों मे देखी जाती है ।

एक और स्थान पर अपने बचपन का चित्र अंकित करते हुए रवीन्द्रनाथ ने कहा था, सध्या समय तेल का दीया जलाया जाता था, उसी की क्षीण रौशनी मे चटाई बिछा कर बूढ़ी नौकरानो से कहानियां सुना करता था । इस जगत में मैं था, एकाको, लज्जाशील, नीरव और अचंचल ।

मैंने एक बार उनसे कहा था, सबसे बड़ी बात यह हुई कि आपने ब्रज बोली के कृत्रिम बन्धनों से बहुत शीघ्र मुक्ति प्राप्त करलीं और बंगला भाषा को ही एक स्वस्थ माध्यम के रूप मे अपना लिया ।

वे कह उठे थे, मुझे बंगला ही प्रिय लगी । काव्य साधना मे मै निरन्तर आध्यात्मिकता का समर्थक रहा हूॅ । वेद, उपनिषद्

की मार्मिक वाणी तथा वैष्णव कवियो द्वारा प्रस्तुत की हुई विचारा-धारा मुझे सदैव प्रिय रही है। बंगाल के बाउल बैरागियो के गान भी मुझे प्रेरणा देते रहे हैं।

गुरुदेव ने अपनी विदेश यात्रा का उल्लख करते हुए एक बार एक मजेदार कहानी सुनाई थी। एक ऐसे अध्यापक से भेंट होने पर, जिसने 'भानुसिहरे' पदावली के तथाकथित कवि 'भानुसिंह' को चंडीदास से भी पहले का कवि सिद्ध करने का यत्न किया था, गम्भीर स्वर मे कह उठे थे, पर वह चडीदास से भी पुराना कवि भानुसिंह तो आज तुम्हारे सम्मुख उपस्थित है। उस अध्यापक ने अपनी अल्पज्ञता जतलाते हुए खिसियाना होकर कहा था, भानुसिंह पदावली की बहुत फटी-पुरानी प्रति मेरे हाथ लगी थी। इसीलिए इतनी भूल हुई। गुरुदेव ने हंस कर उसके उत्तर मे कहा था, अब यूनिवर्सिटी वाले आपसे डाक्टरेट तो वापस नहीं लेगे।

संसार की अनेक भाषाओं मे उनकी पुस्तकों के अनुवाद हुए, अनेक साहित्यकारो को देश-विदेश मे उन्होने अपने दृष्टिकोण से प्रभावित किया।

यह बंगाल का सौभाग्य था कि उसकी भाषा को समृद्ध बनाने के लिए गुरुदेव जैसे साहित्यकार का आविर्भाव हुआ। वैसे तो प्राय. भारत की प्रत्येक भाषा गुरुदेव की ऋणी है, क्योंकि उनकी रचनाओं के अनुवाद प्रस्तुत करते समय नवीन शब्दों या शब्द-प्रयोगों की आवश्यकता पड़ी। स्वय गुरुदेव ने बगला को नई ही गति-विधि प्रदान की। आधुनिक बगला का वाक्य स्वरूप और व्याकरण घडने मे यदि कवीन्द्र का कुशल हाथ न लगा होता तो कौन कह सकता है कि यह किस मोड़ पर अनिश्चित् रूप मे खड़ी हो गई होती।

गुरुदेव को दो सहस्त्र से भी अधिक गान रचने का श्रेय

प्राप्त है। एक स्थान पर उन्होंने अपनी संगीत साधना का परिचय देते हुए कहा है, गांव के सुर के आलोक में इतनी देर बाद जैसे सत्य को देखा। अन्तर मे यह गान की दृष्टि सदा जाग्रत न रहने से ही सत्य मानो तुच्छ होकर दूर खिसक पड़ता है। सुर का वाहन हमे उसी पर्दे की ओट मे सत्य के लोक मे वहन करके ले जाता है। वहां पैदल चल कर नहीं जाया जाता, वहां की राह किसी ने आंखो नही देखी। पंद्रह-सोलह वर्ष की उदीयमान आयु से ही जिस महाकवि ने गीत काव्य की रस-वर्षा से राष्ट्र की भाव-भूमि को सींचना आरम्भ कर दिया हो, पैसठ वर्ष तक जिन का शब्द सगीत कभी रुद्ध न हुआ हो, जिन्होने मृत्यु शय्या पर से भी एक महान गान के बोल लिखाये, उन्हे शत-शत प्रणाम!

नाइ नाइ भय, हबे हबे जय, खुले जाबे एइ द्वार, शीर्षक गान मे गुरुदेव कहते है—'भय नहीं है, भय नही है, विजय होगी, विजय होगी—यह द्वार खुल जायगा। मै जानता हूँ, तेरे बन्धन की डोर बार-बार टूट जायगी। क्षण-क्षण तू अपने आपको खोकर सुप्ति की रात काट रहा है। बार-बार तूने विश्व का अधिकार पाया होगा। स्थल मे, जल मे तेरा आह्वान है, लोकालय मे तेरा आह्वान है। चिरकाल तक तू सुख दुख मे, लाज भय मे जो गान गायेगा, तेरे एक-एक स्वर मे बूल पल्लव, नदी निर्झर, स्वर मिलाएगे और तेरे छन्द से आलोक और अन्धकार स्पन्दित होंगे।' आज वह द्वार सदा के लिए खुल गया। क्या ही अच्छा होता कि आज गुरुदेव जीवित होते और शान्तिनिकेतन मे अपने निवास-स्थान उत्तरायण के द्वार पर खड़े होकर स्वतत्रता की ऊषा का स्वागत करते, जिसकी प्रतीक्षा मे वे अन्तिम नि श्वास तक आकुल रहे।

एक बार किसी ने गुरुदेव से कहा था, '६०० गानो के रचयिता शूबार्ट को संसार के सबसे अधिक गानों का

रचयिता कहा जाता है। पर आपने तो कोई उससे चौगुने गान रचे है।'

इसके उत्तर मे वे कह उठे थे, 'युवावस्था मे मेरा गला अच्छा था। मेरी शिक्षा उस्तादी सगीत में हुई थी, पर मैंने उस्तादी संगीत का पथ अपनाना पसंद नहीं किया। गानों की कथा-सृष्टि, स्वर-सृष्टि और कथा तथा स्वर की सहायता से कंठ द्वारा होने वाली अत्यन्त विचित्र ध्वनि रूप सृष्टि के त्रिविध कृतित्व की ओर सदैव मेरा ध्यान रहा।'

आगतुक ने फिर कहा, 'वस्तुत आप पहले संगीतस्रष्टा है, फिर कुछ और।'

एक महान् स्वरकार और शब्द-शिल्पी के रूप मे गुरुदेव ने ऊषा के रंगो की मृदुता और प्रफुल्लता द्वारा अनेक सुन्दर गानो की सृष्टि की। रात्रि एशे जेथाय दिनेर पारावारे, तोमाय आमाय देखा होलो सेइ मोइनार धारे। अर्थात् जहाँ रात्रि आकर दिन के पारावार मे मिलती है, उसी मोइना की धारा पर तेरे साथ मेरी आँखे मिल गईं .सीमार माझे असीम तुमि बाजाओ आपन सुर अर्थात् तुम सीमा के भीतर असीम हो, अपना स्वर बजा रहे हो .. अह जागि पोहालो विभावरी, क्लान्त नयन तव सुन्दरी, अर्थात् अहा, जाग कर रात बिता दी तेरे नयन थके-थके से हैं, ओ सुन्दरी .. ..बाजिली काहार वीणा मधुर स्वरे, आमार निभृत नव जीवन परे, अर्थात् मधुर स्वरों मे किसकी वीणा बज उठी, मेरे निर्जन नवीन जीवन के ऊपर ....आजि शरत् तपने प्रभात स्वप्ने, कि जानि परान किजे चाय, अर्थात् आज शरद् ऋतु के सूर्योदय मे, प्रभात के स्वप्नकाल मे न जाने हृदय क्या चाहता है..... लेगेछे अमल धवल पाले मन्द मधुर हावा, अर्थात् मेरे इस स्वच्छ श्वेत पाल मे मन्द मधुर हवा लग रही है . यदि तोर ढाक तुने के न आसे, तबे एकला

चल रे, अर्थात् यदि तेरी पुकार सुनकर कोई नहीं आता तो अकेला ही चल दे रे . ये तोरे पागल बले, ता रे तुइ बलिस ने कछु, अर्थात् जो तुझे पागल कहे उसे तू कुछ भी मत कह . . .. आमि फिरबो ना रे फिर बो ना आर फिर वो ना रे, अर्थात् मै लौटूंगा नही रे, अब नहीं लौटूंगा, नहीं लौटूंगा रे। ऐसे अनेक चित्र प्रेरक और श्रुति मधुर गान रचने वाले महाकवि को शत-शत प्रणाम !

गुरुदेव ने गान रचे, कविताएं लिखीं, अनेक कहानियो, उपन्यासों और नाटको का सृजन किया। जीवन स्पर्शी निबन्ध लिखे, चित्रकला के क्षेत्र में अलग उनकी प्रतिभा अग्रसर हुई। इस प्रकार अपनी बहुमुखी सृजन शक्ति द्वारा वे जीवन पर्यन्त साहित्य और कला की सेवा करते रहे। उनकी रचनाओं मे विराट मन और प्रशस्त भाल उभरता है। एक साथ वाल्मीकि और कालीदास की याद आ जाती है। अपने पदचिह्नो से उन्होंने एक समूचे युग को नाप डाला।

उन्हे देख कर मुझे कई बार अनुभव हुआ कि एक साथ हिमालय और गगा का चित्र सजीव हो उठा है, एक मुक्त वाक युग-पुरुष अंगुली उठा-उठा कर हमें यह चित्र दिखाये जाता है, जैसे पद्मा का पानी सजग हो उठा हो, जैसे युग-युग की भाषा बोल उठी हो, जैसे अतीत और आगत एक सूत्र मे पिरो दिये गये हो। गुरुदेव के जीवन काल मे ही बंगला साहित्य मे दूसरे युग की गति-विधि आरम्भ हो गई थी। काज़ी नजरूल ने काव्य क्षेत्र में और शरतचन्द्र ने उपन्यास जगत मे गुरुदेव से भिन्न प्रकार की सृजन-शक्ति का परिचय दिया। गुरुदेव की महानता यहा भी पीछे नहीं रही। उन्होंने स्वयं अपनी रचना मे अपने ऊपर व्यग्य कसने से संकोच नहीं किया। वे नये युग को आते देख रहे थे।

गुरुदेव साहित्य और कला की शाश्वत परम्परा के प्रतीक थे, देश काल की सीमाओं मे बधे हुए साहित्यिको और कलाकारों मे गुरुदेव को सदैव एक ऊंचा आसन प्राप्त होता रहेगा। 'फाल्गुनी' नाटक मे राजा कवि से पूछता है, पर हे कवि, इसका अर्थ तो समझाओगे ना । कवि कहता है, नहीं महाराज। राजा फिर पूछता है, तो फिर ? कवि कहता है, अपनी कविता मैं अर्थ समझने के लिए लिखता ही नहीं । वह लिखी जाती है गुञ्जन प्रेरित करने के लिए, हृदय के अन्त स्थल पर जाकर संवेदन जगाने के लिए।

राजा पूछता है, इसका क्या अभिप्राय ? कवि कहता है, बालक जन्म लेता है और तुरन्त रोने लगता है, उस रुदन का अर्थ आप समझते हैं, महाराज। उस समय वह कहता है—मैं आया। महाराज मेरी कविता भी इसी प्रकार की है।

गुरुदेव का यह स्थिर मत था कि महान काव्य सदैव आनन्द से उद्भूत होता है। एक बार उन्होंने कहा था—'साहित्यिक भाषा के माध्यम द्वारा कवि यह तो दिखा सकता है कि प्रकृति मनुष्य के हृदय मे और उसके सुख दुख के चारा ओर किस प्रकार प्रकाशित होती है, इससे अधिक कुछ नहीं। क्योंकि वह जिस भाषा मे वर्णन करता है उसका एक-एक शब्द उसके हृदय के झूले मे लालित-गालित हुआ होता है। यदि कोई भाषा मे से उस जीवन को निकाल कर केवल जड उपादान के रूप मे बदल कर विशुद्ध वर्णन लिख डाले तो इसमे कविता का समावेश नही हो सकेगा। मै सौन्दर्य प्रकाश को साहित्य का उद्देश्य नहीं, उपलक्ष्य मात्र मानता हूं। हैमलेट का चित्र सौदर्य का नहीं मनुष्य का चित्र है, ओथेलो की अशान्ति सुन्दर नहीं, मनुष्य के स्वभाव की वस्तु है। प्राकृतिक सौंदर्य मे मनुष्य अपने को अनुभव करता है, क्योंकि प्रकृति के सौंदर्य के सम्बन्ध में वह

जितना ही सचेत होगा प्रकृति मे उसके हृदय की व्याप्ति उतनी ही बढ़ेगी । किन्तु केवल प्रकृति के सौंदर्य को ही वे कवि की चर्चा का विषय नही मानता। प्रकृति की भीषणता और निष्ठुरता भी वर्णनीय है। किन्तु वह भी हमारे हृदय की वस्तु है, प्रकृति की वस्तु नही। अतएव ऐसा कोई वर्णन साहित्य मे स्थान नहीं पा सकता जो सुन्दर न हो, शान्तिमय न हो, भीषण न हो, महत् न हो, जिनमे मानव धर्म न हो अथवा जो अभ्यास या अन्य कारण से मनुष्य के साथ निकट सम्पर्क मे बद्ध न हो।'

गुरुदेव की एक कविता की कुछ पंक्तियां मेरी कल्पना के तार हिलाने लगती हैं —

तोमार कीर्तिर चेये तुमि जे महत्
ताइ तव जीवनेर रथ
पश्चाते फेलिया जाय कीर्तिरे तोमार
बारबार ।

तुम अपने यश की अपेक्षा जो महत् हो
इसीलिये तुम्हारे जीवन का रथ
पीछे छोड़ जाता है तुम्हारी कीर्ति को
बारंबार ।

. ३ .

याद है वह दिन जब सर्वप्रथम गुरुदेव से भेट हुई थी। उस दिन उन्होंने कहा था, 'तुम जिस पथ के पथिक बनते जा रहे हो, वह बहुत लम्बा है। पर जब एक बार तै कर लिया चलना तो फिर पीछे काहे को हटना।'

याद है वह सांझ, जब मैंने गुरुदेव से कहा था कि मैंने अपनी पुत्री का नाम रखा है कविता, और वे कह उठे थे, 'मैं केवल कवि हू और यह सिद्ध करने के लिए जब देखो कोई न कोई कविता लिखने की कोशिश किया करता हूं, पर तुम ठहरे

'कविता' के पिता। तुम कोई कविता लिखो न लिखो।'

याद है वह दोपहरी, जब खान अब्दुलगफ्फार खान के सुपुत्र गनी खान के हाथ मे तूलिका देख कर गुरुदेव कह उठे थे, 'ये अगुलियां तो राइफल चलाने के लिये बनाई गई थीं,' और उत्तर मे गनी खान ने कहा था, 'गुरुदेव, मै ऐसा चित्र बनाऊंगा जिसे देख कर हर एक पठान राइफल संभाल कर खडा हो जाय।'

याद है वह दिन जब मैं अन्तिम बार गुरुदेव से मिला था, पुरी के गवर्नमैंट हाऊस मे, जहां १६४० के आरम्भ मे गुरुदेव ठहरे हुए थे। सामने विशाल सागर था। बड़ी-बड़ी लहरे उठ रही थीं। ये लहरें क्या कह रही है? मैंने गुरुदेव से पूछना चाहा। पर जैसे मेरे मन का भाव बूझते हुए वे स्वय ही कह उठे थे, 'लहरे कह रही हैं कि एक युग जा रहा है, एक युग आ रहा है। कवि तुम विदा क्यो नही लेते?'

मैने कहा, 'अभी तो हमे आपकी आवश्यकता है, गुरुदेव।'

वे बोले—,'जब दिन शेष हो जाता है, सूर्य को विदा लेनी ही पड़ती है।'

मैंने कहा—,'जो सूर्य अस्त होता है, वही तो अगले सबेरे फिर उदय होता है।'

वे मुसकरा कर कह उठे—,'पर सूर्य को जाना ही होता है।'

याद है वे शब्द जो गुरुदेव के महाप्रयाण के पश्चात् देश के एक राष्ट्रीय नेता ने शान्तिनिकेतन के एक अध्यापक के नाम अपने पत्र में लिखे थे—

'मुझे विश्वास है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा और सारे जनरल, फील्ड,मार्शल, डिक्टेटर और बकवादी राजनीतिज्ञ मर चुकेगे तथा लोग उन्हे भूल चुकेगे—गुरुदेव और गांधीजी को लोग याद रखेगे।' मुझे यह देख कर आश्चर्य होता है कि

अपनी आज की हालत के बावजूद (या शायद इसी की वजह से) एक पीढ़ी के दौरान मे ही भारत इन दो महारथियों को पेश कर सका। साथ ही इससे मुझे भारत की गहरी जीवन शक्ति का विश्वास भी हो जाता है और मै आशा से भर जाता हू। इस आश्चर्यजनक सत्य के आगे, युगों से चले आये और आज तक के भारत के विचार की अखण्डता के सामने, आज की सामान्य कठिनाइया और झगड़े बहुत ही तुच्छ और अनावश्यक जान पड़ते हैं। गुरुदेव और गाधीजी दोनो ने, विशेषतया गुरुदेव ने, पश्चिम और अन्यान्य देशो से बहुत कुछ लिया है। दोनो मे कोई भी संकीर्ण रूप से राष्ट्रीय नहीं। उनके सन्देश दुनिया के लिए थे और उसकी युगातीत सस्कृति के उत्तराधिकारी, प्रतिनिधि, तथा प्रतिपादक।'

याद है मुक्तहास्य की रेखाएं जो, प्राय: गुरुदेव की मुखाकृति को और भी प्रिय बना देती थीं। याद है गुरुदेव का व्यग्यपूर्ण हास्य। एक कन्या आकर गुरुदेव का आटोग्राफ लेने के लिए मचल रही है। गुरुदेव उस कन्या से उसका नाम पूछते हैं। छवि—यह उस कन्या का प्रिय नाम है। गुरुदेव उस का आटोग्राफ बुक में झट से लिख देते है—

तोमार नाम छवि, आमार नाम रवि
मिले गैलो छन्द, बेचे गैल कवि
तुम्हारा नाम है छवि, मेरा नाम है रवि
छन्द मिल गया, कवि बच गया!

और सब बात मिथ्या। छन्द मिलने की बात चिरन्तन सत्य है। छन्द के प्रति गुरुदेव सदैव सगज रहे, इसके प्रयोग के अंतिम दिनों तक करते रहे।

बापू का रेखाचित्र

विक्टर ह्यूगो की चर्चा करते हुए कवि स्विनबर्न ने कहा था — 'जीवन में मैं एक ही बार ह्यूगो की प्रतिभा के स्वरूप की उपलब्धि कर सका हूँ।' बचपन में एक बार स्विनबर्न ने देखा कि अचानक समुद्र में भीषण तूफान उठा और बिजली कड़कने लगी। बिजली का अविराम कड़कड़ाहट, तूफान का संघर्ष, और इसके बावजूद आकाश पर स्थिर पूर्ण चन्द्रमा। इसी दृश्य को देखकर कवि कह उठा—'एक ठोस और छोटे प्रतीक के रूप में यही विक्टर ह्यूगो की प्रतिभा की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा है।' गाँधी-जी का चित्र भी कुछ ऐसी ही रेखाओं द्वारा अंकित किया जा सकता है। स्वतंत्र भारत की देशव्यापी अशान्ति के बीचोबीच आज भी उनकी वाणी में शान्ति और मानवता की परिभाषा प्रतिध्वनित हो उठती है। अनशन उनका अन्तिम हथियार है। अनेक बार उन्होंने इसका प्रयोग किया है। इस की सहायता से उन्हों ने हाल ही कलकत्ता में शान्ति स्थापित कर दिखाई। और यह घोषणा तो वे कई बार कर चुके हैं कि यदि वे साम्प्रदायिक दंगों और कत्ले-आम को बन्द न करा सके तो वे

मरण-व्रत रखने से नही चूकेगे।

गुरुदेव कहने से जैसे झट रवीन्द्रनाथ ठाकुर की याद आ जाती है, बापू कहने से झट गॉधीजी का समस्त व्यक्तित्व हमारी ऑखो मे फिर जाता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अनुपस्थिति इस समय बहुत खटकती है। वे एशिया और यूरोप के सांस्कृतिक सगम की महत्ता सिद्ध करने मे सलग्न रहे। गुरुदेव और बापू मे इस सास्कृतिक सगम की महत्ता के सम्बन्ध मे कभी मतभेद नहीं हुआ था। बापू तो ठहरे राष्ट्र-पिता। परन्तु बापू और गुरुदेव मे चरखे के सम्बन्ध मे जरूर एक बार कुछ मतभेद हो गया था। गुरुदेव ने बापू को खूब आडे हाथो लिया। बापू ने भी करारा उत्तर दिया। रोम्यॉ रोलॉ ने गॉधीजी की एक छोटी-सी जीवनी लिखी है। उसमे बापू और गुरुदेव के वे पत्र मौजूद है जिनमे ये दोनो महापुरुष एक दूसरे से उलझ गये थे। फिर कभी किसी बात पर बापू और गुरुदेव मे मतभेद नही हुआ। शान्तिनिकेतन मे वह विख्यात तैल-चित्र आज भी मौजूद है जिसमे अफ्रीका से लौटने के पश्चात् बापू की शान्तिनिकेतन यात्रा की स्मृति निहित है। इस चित्र मे गुरुदेव, सी० एफ० ऐण्ड्रयूज और बापू पास-पास बैठे हैं। इसके पश्चात् भी बापू कई बार शान्तिनिकेतन गये और गुरुदेव की साहित्य-साधना से उन्हे सदैव दिलचस्पी रही। भारतीय इतिहास मे बापू के अनशन की वह गाथा भी चिरस्मरणीय रहेगी, जब बापू के जीवन को सकट से बचाने के लिए गुरुदेव स्वयं बापू के पास पहुॅचे। बापू के कहने पर गुरुदेव ने अपने मुख से अपना सुविख्यात गान 'जन-गण-मन-अधिनायक' गा कर सुनाया। और इस के पश्चात् जब बापू को विश्वास दिलाया गया कि देश का राष्ट्रीय जीवन उन्ही के सिद्धान्तों के अनुसार अग्रसर होगा, उन्होने अपना अनशन तोड़ दिया। फिर तो गुरुदेव ने अन्य

कई गान गा कर बापू के हृदय के तार मधुर गति से हिलाने शुरू कर दिये।

'वन्देमातरम्' और 'जन-गण-मन-अधिनायक' बापू को समान रूप से प्रिय है। दोनो गान बगाल की उर्वरा काव्य-भूमि के परिचायक है। इन मे बापू को समान रूप से देश के शत-शत जनपदों के हृदय की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। उन्हे जनता के दु:खो को दूर करने के कार्य मे सलग्न रखने मे सब से अधिक हाथ तो सन्त कवियों की रचनाओ का है। क्योंकि धर्म के अध्ययन और सेवन से उन्हे यही शिक्षा मिली है कि समग्र मानव जाति एक है और भौगोलिक सीमाएँ भी विश्व-व्यापी चिर-सत्य के मुकाबले मे एकदम नकली और संकीर्ण हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि विश्व-प्रेम का कोई हामी अपनी जन्मभूमि की परतन्त्रता की ओर से ऑखे बन्द कर ले। बापू ता इस सिद्धान्त के मानने वाले है कि प्रत्येक काम घर से शुरू किया जाय।

'हिन्दुस्तान छोडो' का नारा बुलन्द करने के अपराध मे जब बापू सन् ४२ के आंदोलन मे जेल चले गये तो यो प्रतीत होने लगा था कि देश का स्वतन्त्रता-संग्राम दब जायगा। परन्तु बापू की आवाज़ देश के वातावरण मे बराबर प्रतिध्वनित होती रही। एक बार सुलग कर आग बुझी नहीं थी। गॉधी जयन्ती के अवसर पर कम्यूनिस्ट नेताओ ने भी बापू के व्यक्तित्व का सिक्का मानते हुए यह बात स्वीकार की कि वही पहले व्यक्ति. है जिन्होंने हिन्दुस्तान को स्वतन्त्रता की भाषा प्रदान की।

'आज हिमालय भी नीचा है तेरी ऊँचाई के आगे'—यह एक आधुनिक हिन्दी कवि की आवाज़ है। बापू के प्रति अन-गिनत देशवासियों की यही भावना प्रतीत होती है। हिमालय-आरोही के समक्ष खुलते हुए एक के पश्चात् एक ऊँचे शिखरों

की भाँति बापू के सामने अनेक कीर्ति-शिखर उठते चले गये। बापू इन शिखरों को पार करते हुए सबसे ऊँचे शिखर पर जा खड़े हुए। 'अतीत की पूज्य भावना' 'अविचल बुद्ध प्रतिज्ञा', 'भविष्य का भाग्योदय', 'वर्तमान की हलचल'—ऐसी रेखाओ द्वारा आधुनिक कवि बापू का चित्र अंकित करना चाहता है। ये सभी रेखाएँ साबरमती के तपस्वी और सेवाग्राम के सन्त का वास्तविक स्वरूप हमारे सम्मुख उपस्थित करती है।

रोम्याँ रोलाँ ने सन् १६२१ मे बापू के व्यक्तित्व की चर्चा सुनी। इस के पश्चात् अपनी बहन मेडलीन की सहायता से उन्होंने बापू की एक जीवनी लिख डाली जिसके समर्पण मे उन्हों ने लिखा—'गौरव और गुलामी की भूमि को, अस्थायी साम्राज्यो और गौरवपूर्ण विचारों की भूमि को, समय का प्रतिरोध करने वाले लोगों को, नवजाग्रत हिन्दुस्तान को।' यदि आज रोम्याँ रोलाँ जीवित होते तो वे अवश्य स्वतन्त्र हिन्दुस्तान मे बापू से भेंट करने आते।

रोम्याँ रोलाँ पर अहिंसा और सत्याग्रह के सिद्धान्तों का गहरा प्रभाव पड़ा और बापू के प्रति उनकी आस्था विश्व-इतिहास की एक चिर-स्मरणीय वस्तु बन गई। एक स्थान पर रोलाँ ने लिखा—'मै क्रान्ति का समर्थन करता हूँ। पर हिंसा की उपेक्षा करके विजयी होने वाली क्रान्ति की ही मैं कामना करता हूँ। रूसी क्रान्ति का मै मित्र हूँ, क्रान्ति से उत्पन्न रूस के विरोधियों का मै शत्रु हूँ। पर हिंसा और रक्तपात का शंखनाद करके जिस रास्ते से विप्लव को लाया गया है, वह मेरा नहीं है।' आज भी जब कि देश मे हिंसा के स्वर उभर रहे है, बापू की समस्त शक्ति अहिंसा के सिद्धान्त पर केन्द्रित है।

दूसरी गोलमेज कान्फ्रेन्स के अवसर पर गुजरात के सुविख्यात लोकगीत संग्रहकर्त्ता झवेरचन्द मेघाणी ने लोकगीत

सरीखे स्वरों मे एक गीत छेड दिया था—'छेल्लो कटोरो झेर नो आ पी जजे बापू !' इसके सम्बन्ध मे स्वय बापू ने कहा था—'मेरे मन के भाव बिल्कुल ऐसे ही थे जैसे मेघाणी के गीत मे।' आज कवि मेघाणी इस ससार मे मौजूद नहीं। अत किसी दूसरे ही कवि को स्वतन्त्र हिन्दुस्तान में बापू के वास्तविक महत्त्व पर अपनी लेखनी आजमानी होगी ! याद नही आ रहा कि उस कवि का क्या नाम है जिसने कहा है कि प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि के मार्ग चिता की ओर ले जाने वाले है। बापू की और बात है। उनका नाम आज देश-विदेश मे शायद सबसे अधिक लोकप्रिय है, और यदि सचमुच इस वर्ष शान्ति पर मिलने वाला नोबल पुरस्कार बापू ही के लिए तै हुआ तो उनको प्रतिष्ठा-प्रसिद्धि और भी बढ़ जायगी। गुरुदेव ने गीताजलि पर नोबल पुरस्कार मिलते ही सब रुपये शातिनिकेतन को दे डाले थे। बापू भी पुरस्कार के रुपये अपने पास थोड़े ही रखेंगे। साफ बात है। ये रुपये सीधे हरिजन फड मे चले जायगे !

गुरुदेव ने एक बार शान्तिनिकेतन मे गांधी-जयन्ती के अवसर पर कहा था—'जब हम प्रादेशिकता के जाल मे फंस कर और दुर्बलता से अभिभूत होकर पड़े हुए थे, उस समय रानडे, सुरेन्द्रनाथ, गोखले आदि महाशय पुरुष जनता का गौरव बढ़ाने के लिए आये। उन्होंने जिस साधना का आरम्भ किया, उसे प्रबल शक्ति से, द्रुत वेग से, विलक्षण सिद्धि के पथ पर जिन्होने अग्रसर किया, उन महात्मा के स्मरण के लिए आज हम यहाँ एकत्र हुए हैं—वे हैं महात्मा गाधी।' एक और स्थान पर अहिंसा और सत्याग्रह की महत्ता की ओर संकेत करते हुए गुरुदेव ने कहा था—'यह अनुशासन कि मैं मरूंगा तो भी मरूंगा नहीं और इसी तरह विजय पाऊंगा, एक जबर्दस्त बात है, एक महान् वाणी है। यह चातुरी या कार्यसिद्धि के लिए

दिया हुआ परामर्श नहीं है। धर्म-युद्ध बाहरी विजय के लिए नहीं है, हारने पर भी विजय प्राप्त करने के लिए है। अधर्म-युद्ध मे जो मर गया सो मर ही जाता है। परन्तु धर्म-युद्ध मे मरने पर भी अवशिष्ट रह जाता है। हार से ही जीत होती है, मृत्यु से ही अमृतत्व प्राप्त होता है। जिन्होने अपने जीवन मे इस सिद्धान्त को स्वाकार और अनुभव किया है, उनकी बात सुनने के लिए हम बाध्य है।' गुरुदेव ने १३ दिसम्बर, १६४० के दिन उत्तरायण मे बैठकर एक कविता लिखी, जिसका शीर्षकहै 'गान्धि महाराज'। पेसिल के गिने-चुने स्पर्शों से ही कवि ने बापू का चित्र अकित करने का यत्न किया है—

गान्धि* महाराजेर शिष्य
केउ बा धनी केउ बा नि स्व,
एक जायगाय आछे मोदेर मिल,
गरिब मेरे भराइ ने पेट,
अमीर काछे हइ ने तो हेट,
आतके मुख हय ना कभु नील।
पण्डा जखन आसे तेडे
ऊँचिये घुषि डाण्डा नेडे
आमरा हेसे बलि जोयानटाके
ए जे तोमार चोख रागानो
खोका बाबूर घूम भांगानो
भय न पेले भय देखावे काके।
सिधे भाषाय बलि कथा,
स्वच्छ ताहार सरलता,
डिप्लमैसिर नाइको असुविधे,
गारदखानार आइनटा के
खूँजते हय ना कथार पाके,

जेलेर द्वारे जायसे निये सिधे ।
दले दले हरिण बाढ़ि
चलल जारा गृह छाड़ि
घूचले ताहरे अपमानेर शाप,
चिर कालेर हातकड़ि जे
धूलाय खसे पड़ल निजे,
लागल भाले गान्धी राजेर छाप ।

अनुवाद—

'गांधी महाराज के जो शिष्य हैं उनमे कोई धनी है कोई निर्धन। एक जगह हमारा मेल है। हम गरीब को मार कर पेट नहीं भरते, और न हम अमीर के सामने सिर झुकाते है। न किसी के आतक से हमारा मुँह नीला पड़ जाता है। जब सिपाही दौड़ कर आते है, घूँसा उठाकर और डडा घुमा कर, तो हम इन मर्दों से कहते है—ये जो तुम्हारी आँखे लाल हो रही हैं ये केवल बच्चों की आँखों से नीद भगाने मात्र के लिए ही हैं, हम डरेगे नहीं तो तुम किसे डर दिखाओगे? मैं सीधी भापा मे बात कहता हूँ कि उनकी सरलता स्वच्छ है। इसमें डिप्लोमैसी की कोई असुविधा नही है। जेलखाने के कानून को ये लोग बात के पेच निकाल कर नहीं देखते। वे तो इसे सीधे जेल के द्वार तक ले जाते है। जब दल बॉध-बॉध कर हिरन घर छोड़-छोड़ कर चल पड़े तो उनके लिए अपमान का अभिशाप ख़त्म हो गया। जो चिरकाल की हथकड़ी है वह तो आप ही आप खुल कर धूल पर गिर पड़ी, और उनके माथे पर गाधी-राज की छाप लग गई।'

सन् १६०६ मे लाहौर कांग्रेस के अवसर पर गोखले ने 'आदमियों मे आदमी गांधी' का स्वागत करते हुए कहा था—'यह मैं अपनी जिन्दगी की ख़ास नियामत्तों में से समझता हूँ

कि श्री गांधी से मेरी घनिष्ठता है वे एक ऐसे आदमी हैं जिनके लिए हम कह सकते है कि आदमियो मे आदमी है · सन १६१० मे लियो टाल्स्टाय ने अपने एक पत्र मे गांधीजी को लिखा—'समाजवाद, साम्यवाद, अराजकवाद, मुक्ति सेना, अपराधो की संख्या मे वृद्धि, बेकारी, धनाढ्यों की बढ़ती हुई मतवाली विलासिता और गरीबो की दीनता, आत्मघातों की संख्या मे भयकर वृद्धि—ये सब उस आंतरिक विरोध के लक्षण है जिसका परिहार हमे करना है, और जिसका परिहार अवश्य होने ही वाला है। हिंसा का त्याग और अहिंसा धर्म को स्वीकार करने ही से इस विरोध का परिहार होगा। इसलिए ससार के इस कोने से हमारे ट्रॉसवाल मे आपने जो कुछ कर लिया है वह आज दुनियॉ का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य प्रतीत होता है जिसमे सिर्फ ईसाई दुनियां ही नहीं तो अखिल ससार के सभी राष्ट्र अवश्य शामिल होगे।' सन् १६१८ मे लोकमान्य तिलक ने लिखा—'श्रेष्ठ और उदार व्यक्तियों की जीवनियॉ चरित्र-विकास मे उपयोगी होती हैं। अत. महात्मा गॉधी की जीवनी इस व्यापक दृष्टि से सभी पढ़े ऐसी हमारी सिफारिश है।'··· · इस समस्त प्रशंसा का एक ही कारण है, बापू की साधना सत्य की है और मिथ्या की दाल उनके यहॉ कभी नहीं गल सकती। वे हिन्दुस्तान की युग-साधना के प्रतीक है, क्योंकि वे सब अवस्थाओं मे सत्य को हाथ से नहीं जाने देते। देश-देश मे स्वतन्त्रता का इतिहास रक्त मे सना हुआ नजर आता है। बापू का पथ और है। इसी पथ पर चलकर देश ने दो सौ वर्ष की गुलामी के बाद आजादी का स्वागत किया।

बापू को खबती कहने वाले लोगो की भी काफी गिनती है जिनका हिंसा मे विश्वास है, वे भला बापू की बातों का मूल्यांकन कैसे कर सकते हैं। जहॉ पशुबल ही विधान है, वहॉ बापू के

कदरदान नही मिलेगे। बापू के यहाँ दार्शनिक और सन्त मे परस्पर गलतफहमी के लिए तनिक भी स्थान नहीं। श्री पट्टाभि-सीतारामैया ने लिखा है—'गांधी की शिक्षा से नशेबाज़ ने नशा छोड दिया है। उनकी दैवी आसीस से वेश्या गृहलक्ष्मी बन गई है। उनके निदर्शन से प्रमादी श्रमी हो गया है उनकी जिह्वा के एक सकेत ने दलित को उबार लिया है, उनकी एक सांस ने नारी को, जो घरेलू चल-सम्पत्ति समझी जाती थी समाज के विवेकमय और उत्तरदायी सदस्य मे परिवर्तित कर दिया है वे ग्रामो मे पुनर्जीवन चाहते है, पर सभ्यता की आदिम अवस्था की ओर लौटना नहीं चाहते वे ब्रिटेन से लड़ते हैं, पर अगरेज से मैत्री करते है।'

बापू के साथ स्वतन्त्रता की चर्चा कर देखिए, वे झट कह उठेगे कि जहाँ आपके पडोसी की स्वतन्त्रता शुरू होती है वहीं आपकी स्वतन्त्रता की सीमा है। यही अहिंसा का आधार है, वे साफ-साफ़ कह देगे। प्रभाव और चीज़ है, अधिकार और। कानून और चीज है, न्याय और। ज्ञान और चीज़ है, सस्कृति और। बापू कभी रास्ते मे ही नहीं भटकना चाहते। वे सत्य की खोज मे सदैव अग्रगामी रहते हैं। वे अपनी विचार-शक्ति को प्रतिदिन के कार्यों मे माला के धागे की भाँति पिरोते चले जाते है। यही उनकी सफलता की कुंजी है। सेवा ही उपासना है, ऐसा वे मानते है। बलिदान ही मुक्ति का द्वार खोलता है, यही उनका मूल-मन्त्र है।

बापू की लेखनी की देश-देश मे धाक बँध चुकी है। उनकी वाणी का भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु उनका मौन लेखनी और वाणी से कहीं बढ़कर है। श्रीसीतारामैया की यह बात कि बापू की दृष्टि एक्स-रे की भांति आपके हृदय तक पहुँच जाती है, सोलह आने ठीक है। उनकी मुसकान का भी सीधा

प्रभाव पड़ता है। वे घुमाकर बात नहीं करते। उनकी फैलती सिमटती आँखें आपको नव-जगत् का स्वर दिखाने लगती है। लाखो की भीड़ मे जब बापू की अगुली उठ जाती है तो भयकर कोलाहल नीरवता के आँचल मे सिमट जाता है। उनकी एक ही व्यंग्योक्ति बडो-बडो के दिल दिमाग हिलाकर रख देती है। क्योकि आसानी से कोई उनकी निगाह से बच नहीं सकता।

बुद्ध के पश्चात् हिन्दुस्तान के इतिहास मे गॉधीजी ही पहले व्यक्ति है जिनके चेहरे पर बुद्ध की-सी शान्ति प्रत्यक्ष हो उठी है। यों लगता है कि यह शांति अथाह सागर की एक लहर है। जो लहर अनेक लहरो मे सिमटती समाती रहे उसकी सीमा या पूर्णता का हिसाब कोई क्यो कर लगाये ?

फुलॉप मिलर ने बापू के कला विषयक विचारों की विवेचना करते हुए लिखा है—'किसी जमाने मे बुद्ध के सम्मुख जिस तरह मानव-प्राणी की वेदना अपना घूँघट खोल कर खड़ी हो गई थी, उसी तरह अब वह गॉधी के सामने खड़ी हो गई है। इसलिए वे अपनी भावनाए और शक्तियॉ ऐसे किसी उद्योग मे खर्च नहीं कर सकते जो भूखो को खिलाने मे, नगो की काया ढॉकने मे और दुखियो को ढाढस बँधाने मे प्रत्यक्ष रूप से सहायक न हो।' ··कला को बापू सदैव उपयोगिता की कसौटी पर परखते है। सन् १९३६ मे अहमदाबाद मे गुजराती साहित्य सम्मेलन के बारहवे अधिवेशन मे सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए गॉधीजी ने कहा था—'रविशंकर रावल जैसे कलाकार अहमदाबाद मे बैठे-बैठे ब्रुश चलाया करते है, लेकिन गॉवों मे जाकर वे क्या करेगे ? आज मैंने उनकी प्रदर्शनी देखी और देखकर मेरी वाणी फूल उठी, क्योकि इससे पहले ऐसे चित्र यहॉ नहीं थे ·· चित्रो को तो मुझ से बातें करनी चाहियें, मेरे सामने नाच उठना चाहिये। ऐसे चित्र तो दुनिया मे बहुत

ही थोड़े हैं। रोम के पोप के संग्रह में मैंने एक मूर्त्ति देखी थी जिसे देखते ही मैं स्तम्भित हो गया था। और वह मूर्त्ति थी सूली पर लटके हुए ईसामसीह की। उसे देखकर आदमी दंग रह जाता है लेकिन वह तो परदेश की बात हुई। कुछ ही वर्ष पहले मैं बेलूर गया था। बेलूर मैसूर में है। वहाँ के एक पुराने मन्दिर मे मैंने स्त्री की एक प्रतिमा देखी जो नग्नावस्था मे खड़ी थी। उसे किसी ने मुझे दिखाया नहीं, बल्कि मेरा ध्यान एकाएक उस तरफ चला गया और मै ठिठक गया। मै यहाँ नग्न दशा मे खडी हुई स्त्री का वर्णन नही करना चाहता, लेकिन उस चित्र का जो भाव मै समझ सका हूँ, वही सुनाता हू। उसके पैरो के पास एक बिच्छू पड़ा हुआ है। उसका शिल्प-कवि अश्लीलता का उपासक नहीं था। इसलिए उसने अपनी प्रतिमा को कपड़े से कुछ ढक रखा है। काले सगमरमर की वह एक काली मूर्त्ति है जिसे देखते ही ऐसा मालूम होता है, मानो रम्भा-सी कोई अप्सरा खड़ी छटपटा रही है। यहाँ तो मै उसका गंवारू वर्णन कर रहा हूँ। मै बड़ी देर तक तो उसे देखता ही रहा। वह अपनी देह पर पडे हुए कपड़ो को झटकार रही है। कला को जीभ की ज़रूरत नहीं होती। मैंने सोचा साक्षात् कामदेव बिच्छू बनकर बैठा है और उस बाला की देह से आग-सी झड़ रही है। कवि ने काम की विजय दिखाई है, लेकिन उस स्त्री ने आखिर अपने कपड़ों मे से उसे झटकार ही डाला है और उसे अपने ऊपर विजयी नहीं होने दिया है। उस स्त्री के एक-एक अंग पर उसकी वेदना लिखी हुई है। रविशंकर उसका कैसा भी अर्थ क्यों न करे, उनका वह अर्थ झूठा है और मेरा गॅवारू अर्थ सच्चा है।'

हैदराबाद (दक्षिण) मे प्रेमचन्द सोसाइटी का निर्माण होने पर राजकुमारी अमृतकौर ने सोसाइटी के कार्यकर्त्ताओं के नाम

यह सदेश भेजा—'प्रत्येक शुभ कार्य के लिये गॉधीजी का आशीर्वाद है।'

बापू का विनोदी स्वभाव विख्यात है। एक बार सेवाग्राम मे कुछ अमरीकन पत्रकार बापू से मिलने आये। बाहर खूब लू चल रही थी और आकाश से आग बरस रही थी। वर्धा के ढीले-ढाले तॉगों पर बैठ कर बेचारे अमरीकन पत्रकार पसीने से तर हो कर बापू के पास पहुँच पाये थे। बापू उन्हे देखते ही बोले—'आइए, आप लोग तो एयर कडिशंड कोच मे आये होगे न।' और सब ज़ोर से हॅस पड़े·· उनके विनोद का पार नही। १६४४ मे उनकी ७५ वीं वर्षगॉठ के समारोह पर, जब कि कस्तूरबा स्मारक फण्ड के ट्रस्टियों ने फैसला किया कि अस्सी लाख रुपये की रकम श्रीमती सरोजिनी नायडू अपने हाथ से बापू को भेंट करें, थैली भेट करते समय सरोजिनी देवी कह उठी—'बापू, मै यदि यह रकम लेकर चलती बनूं, तो।' 'तो क्या आश्चर्य। मै जानता हूॅ कि तुम ऐसा कर सकती हो।' बापू ने हॅस कर कहा और एक मीठा स्नेह भरा थप्पड़ सरोजिनी देवी के जड़ दिया। चारों ओर हॅसी का फव्वारा फूट पड़ा।

परन्तु आज बापू के चेहरे पर वेदना की रेखाएँ क्यों उभर रही हैं? उनकी आवाज़ रुँधी हुई क्यो है? वे कलकत्ता से, विजयी हो कर दिल्ली आये हैं। वे बार-बार नगर के उन भागों मे जा रहे है जहॉ हाल ही मे लोगो के रक्त से सड़के लाल हो गईं। उन्होंने लाशों से भरी हुई गलिया देखीं और उनका हृदय विदीर्ण हो गया। क्या इसी दिन के लिए 'राम राज' का स्वप्न देखा था? यही स्वतन्त्रता है तो इसे दूर ही से सलाम। अभी-अभी रेडियो पर उनकी प्रार्थना सभा के भाषण का रिकार्ड सुनाया जा रहा है। बापू की आवाज़ मे आज युग की वेदना सिमट आई है। वे शरणार्थियो के अस्सी या सत्तानवे मील

काफिले का ज़िक्र कर रहे है, जो पच्छिमी पंजाब से चल कर पूर्वी पजाब की ओर आ रहा है। बाइबिल के पन्ने पलट डालो, वे कह रहे है कहीं भी इतने लम्बे काफिले का ज़िक नही मिलेगा। संसार के इतिहास मे यह पहली दु ख-गाथा है •
और बापू की आवाज़ की पृष्ठ भूमि मे रोते हुए बच्चों का शोर उभर रहा है। यह उस दु खान्त का प्रतीक है जिस की ओर बापू देश का ध्यान खींच रहे है। जलियाँवाले बाग मे हिन्दू सिख और मुसलमान का खून एक साथ बहा था, वे कह रहे हैं, फिर आज यह दु खान्त क्यो ? युग-युग के पड़ोसी आज कैसे बिछुड़ने पर मजबूर हो गए ? बाप दादा के घर छोड़ कर लोग कहाँ जायँ ? और जाँय भी तो काहे को। मानवता तो एक ही है। न्याय तो एक ही है अब क्या होगा ? लोग पूछते हैं, देशद्रोहियों को कोई कैसे घर मे रखे ? अरे रे, क्या सारे के सारे साढ़े चार करोड मुसलमान, जो हिन्दुस्तान मे रह गये हैं, देशद्रोही बन जायेगे ?

बापू की आवाज़ शोर में दब रही है। अब क्या होगा ? हर कोई यही पूछ रहा है।

यामिनीराय

पश्चिमी बगाल के बांकुड़ा जिले के अन्तर्गत एक सम्पन्न ग्राम मे यामिनीराय का जन्म हुआ। वहीं उन्होंने अपने शैशव-काल में ग्रामीण शिल्पकारों को शत-शत पीढियों से चली आती कला-परम्परा की साधना करते देखा। 'बगाल की यह कला-परम्परा, जो कभी एक-एक ग्राम मे जीवित थी, उन्नीसवी शती तक केवल वीरभूम, बाकुड़ा और मेदिनीपुर के जिलों मे ही बची रह गई थी'—यह बात कहते समय यामिनीराय की आखे एक अपूर्व गर्व से चमक उठती है।

किस प्रकार वे अपने ग्राम से आने के पश्चात् कलकत्ता के गवर्नमेंट स्कूल आफ आर्ट मे प्रविष्ट हुए और यूरोपीय शास्त्रीय शैली मे शिक्षा पाते रहे, जीविका-निर्वाह के लिए किस प्रकार वे अनेक वर्षो तक शौकीन धनियों के रीतिगत चित्र (पोर्ट्रेट) बनाते रहे—यह एक लम्बी कहानी है। पर जिस बात पर हर किसी को आश्चर्य हो सकता है वह है यामिनीराय का दिशा-परिवर्तन। इसकी पृष्ठ-भूमि मे झांकने की इच्छा बलवती हो उठती है।

वस्तुतः किसी भी कलाकार के चोला बदलने की घटना अकस्मात् तो नहीं हो सकती। एक न एक रूप मे इसे बांकुड़ा ज़िले की कला-परम्परा की विजय अवश्य कहना होगा। किस चोर-दरवाज़े से यामिनीराय के जन्मग्राम की कला उनके मानस के भीतर तक चली आई, यह प्रश्न पूछने को जी चाहता है। पर यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि बांकुड़ा की कला-परम्परा सदैव यामिनीराय के मन की अर्ध-चेतन गहराइयों मे निहित रही और अवसर पाकर सजग हो उठी। इसके यों सजग हो उठने की घटना भी तो अकस्मात नहीं हो सकती। कदाचित 'पोर्ट्रेट' चित्र अंकित करते समय यामिनी राय को कभी सन्तोष नही मिला। धन अवश्य मिला। पर निरे धन से तो सच्चा कलाकार सन्तुष्ट नहीं हो सकता। कलाकार को चाहिए प्रेरणा—एक जीती जागती प्रेरणा। कदाचित् वे अनेक वर्षों तक तैल-चित्र प्रस्तुत करते समय कभी-कभी इस शैली के 'विदेशीपन' पर मन ही मन नाक-भौं चढ़ाया करते थे। कदाचित् वे अनेक बार इस शैली और धन्धे को छोड़ बैठने के लिए तैयार हो गये हों। पर पेट मांगता था भात, और इसके लिए धन अवश्य चाहिए। आखिर एक दिन वे इस निर्णय पर पहुंचे कि देश की अधकचरी आधुनिक संस्कृति के ऊपर यूरोपीय उस्तादों की परम्परा को ज़ोर-ज़बरदस्ती से लादना व्यर्थ है, क्योंकि दिन के प्रकाश मे नहीं रात के समय कृत्रिम रोशनी में ही इनकी सुन्दरता ठीक-ठीक उभरती थी। क्यों न अपने ही देश के बने हुए रग लेकर चित्र बनाये जायं? क्यों न वही रंग लिए जायं जो स्वयं लोक-जीवन मे नज़र आते हैं? क्यों न लोक संस्कृति को ही चित्रों मे प्रधानता दी जाय? ये प्रश्न थे जो यामिनीराय के मन को झझोड़ रहे थे जब उनकी कूंची उनकी प्रयोगशील अंगुलियों में बड़ी तेज़ी से घूम रही थी।

घर वाले घबराये अवश्य। क्योंकि उनकी दृष्टि मे यामिनी-राय बड़ी भूल कर रहे थे। घर खर्च मांगता है। खर्च कहा से किया जायगा? तैल-चित्रों के ग्राहको को लौटा दिया जाय और सारा समय ऐसे-चित्रों की सृष्टि मे लगा दिया जाय जिनकी कहीं बिक्री नहीं हो सकती। यह सब बहुत कठिन था, और नहीं तो पुरानी साढ़ी के पल्लू को काटा जा रहा है। इस पर चित्र बनेगा। वाह साहब! यो ही साढ़ी को नष्ट कर डाला। अभी तो यह कुछ दिन काम दे सकती थी। नई साढ़ी आती नहीं, पुरानी साढ़िया नष्ट की जा रही है। अच्छी चित्रकला है। जिस का कोई ग्राहक नहीं, वह दुकान आज नहीं तो कल उठ जायगी। यह दुकान ज्यादा दिन नहीं चलने की। इस पर ताला लगेगा। बाप रे, यह तो पागलपन है। घर पर इस प्रकार की आलोचना की जा रही हो, और बाहर वालो मे भी व्यर्थ शोर उठ रहा हो। इस कोलाहल के बीचोबीच यामिनीराय की दृष्टि सदैव अपने जन्मग्राम की गलियों मे जाकर टिक जाती और उनकी कूंची और भी तेजी से चलती, रंग उछलते नाच नाच उठते।

वस्तुतः वे बड़े संघर्ष के वर्ष थे जब यामिनीराय की कला मे दिशा-परिवर्तन हुआ। उनकी आयु पैंतीस वर्ष से ऊपर थी। घटने दो घर का खर्च, सिर पर पडेने दो मालिक मकान का किराया, कभी तो आने लगेगे थोडे पैसे इन चित्रों से भी—इस विचार से संघर्ष की कठिनाई को कम करके देखने का यत्न किया जाता।

सन् १९३४ मे जब मैं पूछते-पूछते उत्तरी कलकत्ता की एक गली मे स्थित एक सादे-से घर मे यामिनीराय की चित्रशाला देखने गया, मुझे कलाकार से मिल कर बड़ी खुशी हुई। मैंने अनेक चित्र देखे। वे एक-एक चित्र का इतिहास बतलाते रहे।

एक कला-पारखी के रूप मे नही, एक रसिक के रूप मे ही मै इन चित्रों का आनन्द लेता रहा।

मैंने कहा—'ये चित्र तो खैर किसी प्रदर्शिनी मे भी देखने को मिल सकते थे पर आप सरीखे कला-स्रष्टा से मिलने का आनन्द तो यहीं मिल सकता था।'

वे बोले—'मेरे प्रयोग अभी चल रहे है।'

'चलने दो'—मैने हंस कर कहा, 'कू ची जिधर जाना चाहती है उसे उधर ही जाने दो। कू ची को रोकना या जोर-जबरदस्ती से उसे उसके मार्ग से हटाना तो किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं।'

'मै बस ये रगों के खेल-खेल रहा हू,' वे फिर हंस कर बोले, 'अब मै कूंची को अपने साथ नहीं चलाता, अब तो कूंची ही मुझे अपने साथ चला रही है।'

मैंने कहा—'इन चित्रो की चित्रात्मकता ही इनके सौन्दर्य-बोध मे सहायक हो सकती है।'

इस पर उन्होने 'पटुवा' पट पर चित्र अंकित करने वाले ग्रामीण शिल्पकारो की कहानी छेड़ दी। बोले—'कालीघाट के 'पट' शिल्पी आज भी हमे बहुत कुछ सिखा सकते हैं।'

मैंने कहा—'मैने उनके चित्र भी देखे हैं। पर आपके चित्र उन के समीप होते हुए भी उनसे बिलकुल अलग है। इन पर आपकी अपनी छाप है जिसके बिना किसी भी कलाकार की कृति मे हमे आनन्द नहीं आ सकता।'

× × ×

अभी उस दिन एक कलाकार मित्र से भेट हुई जिनकी जबानी पता चला कि किस प्रकार यामिनीराय की कला ने चोला बदलने का निर्णय किया। उनके सुपुत्र को 'पट' शैली के चित्र अकित करने का शौक था। जब उसकी मृत्यु हो गई तो

यामिनीराय इस आघात से बचने के लिए उसके अंकित किये चित्रों को बड़े ध्यान से देखने लगते । कई बार उन का मन विचलित हो उठता । वे एक-एक करके कई चित्रो को गंगा मे विसर्जन कर आए । और एक दिन ऐसा ही एक चित्र अंकित करने के विचार से वे कूंची और रंग लेकर बैठ गये । बस इस प्रकार यह घटना दिशा-परिवर्तन का कारण बन गई । सुनाने को तो मेरा कलाकार मित्र यह बात सुना गया । पर साथ ही उस ने ताकीद की कि इसे लिखना मत । मैने सोचा यदि यह केवल किम्वदन्ति ही हो तो भी इस का कुछ-न-कुछ महत्त्व अवश्य है । क्योंकि इस मे एक चित्र निहित है ।

इस मित्र ने यह भी बताया कि एक बार अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने यामिनीराय के कन्धे पर हाथ रखते हुए बड़े गर्व से कहा था—'तुमि जानो न बाबा तुमि कि कोरते पारो !'—(तुम जानते नही बाबा, कि तुम क्या कर सकते हो !) उस समय अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने जामवन्त की चर्चा की, जिसने हनुमान से कहा था—'तुम पवन-पुत्र हो । तुम समुद्र लांघ सकते हो ।' कलाकार को भी एक समुद्र लांघना होता है । कोई उसमे इतना आत्म-विश्वास भर दे, यह उसका सौभाग्य ही तो होता है !

कहते हैं एक बार अपने शिष्य नन्दलाल वसु को साथ लेकर अवनीन्द्रनाथ ठाकुर कालीघाट देखने गए । वहां उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति अपनी बूढ़ी माता को पीठ पर उठाये चला आ रहा है । अवनीन्द्र बाबू बोले—'देखो, नन्द, इसी प्रकार देश की कला को अपने कन्धों पर ढोकर चल सको तो कहो !' फिर उन्होंने अपने शिष्य को 'पटुवा' शिल्पियो की कला दिखाई और कहा—'बोलो मुझे क्या गुरुदक्षिणा दोगे ? मैं ऐसी-वैसी गुरुदक्षिणा नही लूंगा । तुम इन पटुवा-शिल्पियों के चरणो मे बैठ कर, इन्हीं के रंगो के, इन्हीं की कूंची के चित्र बनाओ और

उन्हे बेच कर कुछ दिन गुजारो, इसी कमाई से थोडे पैसे बचा कर मेरी गुरुदक्षिणा चुकाओ। तब मै समझूं कि तुम मेरे सच्चे शिष्य हो।' कहते हैं नन्द बाबू कुछ दिनों के लिए गुम हो गये, और अवनीन्द्र बाबू के लाख खोजने पर भी उनका कुछ पता नही चला था और फिर एक दिन नन्द बाबू ने आकर गुरु के चरणो पर पैसे ला रखे और पटुवा-शैली के कुछ चित्र भी। गुरू की आत्मा गद्गद् हो गई।

मैंने सोचा कि जब अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने यामिनीराय के चित्रो पर अपनी सम्मति देते हुए जनता के इस कलाकार को प्रोत्साहन दिया होगा तो नन्द बाबू द्वारा अंकित उन 'पट' चित्रो की याद भी ताज़ा हो गई होगी। अपनी पुस्तक 'बागलार ब्रत' मे प्रस्तुत किये हुए आल्पना चित्रो की राशि भी उन की नजरों मे अवश्य उभरी होगी। सुनयनीदेवी द्वारा अंकित चित्रो की स्मृति भी अवश्य ताज़ा हो गई होगी जिनमे 'पट' चित्रो की प्रेरणा उन्हे पहली बार दृष्टिगोचर हुई थी। शायद उन्होने सोचा होगा कि जो और कोई न कर सका वह यामिनीराय कर रहे हैं और इस मार्ग पर चलते हुए वे बहुत दूर तक ज़य-पताका उड़ायेंगे, दूर तक कला-प्रतिष्ठा और सौंदर्य-बोध का प्रसार करेंगे।

× × ×

यामिनीराय की चित्रशाला मे प्रवेश करते ही एक कला-पारखी कह उठे—'आप की नई कृति कौन-सी है?'

यामिनीराय ने मिट्टी का एक बरतन उठा कर दिखाया जिस पर एक चित्र अंकित था और कहा—'यह मेरी नवीनतम कृति है और यही शायद सर्वोत्तम भी है।'

आगंतुक ने कहा—'पर यहीं से तो आपने आरम्भ किया था।'

वे बोले—'आरम्भ और अन्त एक ही तो होते है।'

इस आरम्भ और अन्त मे भेद न देखने की प्रवृत्ति द्वारा ही यामिनीराय ने कला-परम्परा को आगे बढ़ाया है। अनेक प्रयोगो मे कभी आगे जाकर और कभी पीछे लौट कर उन्होंने सरलीकरण का नया अभ्यास जारी रखा। अभी फूल गूँथती हुई सबल स्त्रियो का चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है, अभी क्षीण-काय मां और पुत्र का चित्र अंकित कर दिया गया। रगो को समान वजन देने को ओर यामिनीराय ने अपनी सफलता के आरम्भिक युग मे ही विशेष ध्यान दिया था। रगो का कुछ ऐसा उपयोग, जिस से उन का उभार दर्शाया जा सके, इस कला मे यामिनीराय की कूंची ने कभी भूल नहीं की।

श्री विष्णुदे ने लिखा है—'चित्र मे उभार प्रदर्शित करने के प्रश्न को मूर्त्तिमत्ता के प्रश्न से यामिनीराय ने कभी नहीं उलझाया, न उन्होंने यही भूल की कि लघु-चित्रपटों के अंकन को भारतीय परम्परा की एकमात्र शैली के रूप मे स्वीकार कर ले। मूल आकारों (बेसिक फार्म) की खोज और रंगों के समवितरण के प्रयोग उन्हे बंगाल की देहाती गुडियों की ओर खीच ले गये। उन्होने बच्चो की विशुद्ध आकार-कल्पक (आईडियोल्पास्टिक) दृष्टि का अनुकरण किया और आदिवासियों के गहरे रंग-विधान को अपनाया। इसी प्रकार हम पाते है कि उन्होने सरलीकरण के प्रयोगो को यहां तक बढ़ाया कि राख के (ग्रे) रंग की (जो कि विस्तृत शून्य का रंग है और रंगो मे सब से कम पर-निर्भर है) पृष्ठभूमि पर काजल की रेखाओ से काम लिया, और इन्हीं से पैनी दृष्टि और कुशल कलाई के सहारे वस्तु के उभार का अंकन किया—वस्तु चाहे 'युवती' अथवा 'मां और शिशु' अथवा 'वृद्ध' हो। उभार का यह चित्रण तलो (प्लेन) के उपयोग से नही, प्रवहमान रेखा के चाक्षुष बोध के सहारे ही किया गया।

जिन की आँखे फारसी चित्रकला के बारीक अंकन अथवा फोटो के स्थूल प्रतिचित्रण की अभ्यस्त है, उन्हे भले ही इन चित्रो मे ठोसपन न दीखे।'

उभार और डौल यामिनीराय के सौन्दर्य-बोध की विशेषताएं है। उनकी कूंची को रीतिबद्ध कह कर उसकी अवहेलना करना सहज नहीं क्योंकि इस कूंची द्वारा प्रस्तुत की हुई कला-वस्तु कहीं भी अमूर्त नही दीखती। 'पट' शैली की ग्रामीण कला परम्परा से यामिनीराय ने बहुत-कुछ लिया है, पर यह नितान्त सत्य है कि उनके चित्र कही भी अनुकृतिया नही कहे जा सकते।

राम और कृष्ण के चरित-चित्रण से यामिनीराय का गहरा ममत्वभाव है। अत' इस विषय के अनेक चित्र उनकी विशेष शैली के प्रतीक है। ध्यान से देखा जाय तो इनमें भी विकास की विभिन्न अवस्थाए नजर आ जायंगी। पर यह कैसे हो सकता था कि वे राम और कृष्ण के चरित-चित्रण तक ही सीमित रहते? अत उनके यहां बगाल के लोक-जीवन के जीते-जागते पात्रों की कमी नहीं। यहां किसान और लुहार मिलेगे तो बाउल और फकीर भी। यहा लाल चिड़िया लिये हुए किसान बालक भी देखा जा सकता है। नारी को भी भुलाया नही गया—ब्याहता नारी मिलेगी तो अनब्याही कन्या भी, नवयौवना भी और वृद्धा भी; श्रमजीवी नारी और भद्रवर्गीय नारी—यहा दोनों ने समान रूप से प्रवेश किया है। इसमे मुख और देह का चित्रण इस बात का परिचायक है कि यामिनीराय ने ,कोई आज ही कूची और रंग से काम लेना शुरू नही किया। रग स्वयं अपने मुख से बोल उठते हैं। रेखाएं अलग अपना सिक्का मनवा लेती हैं। एक रग दूसरे रंग को थामे हुए नजर आता है। जैसे एक-दूसरे मे खो जाने का आदर्श

एकदम ठुकरा कर प्रत्येक रग ने अपना अलग व्यक्तित्व दर्शाने मे ही मुक्ति का मन्त्र पा लिया हो। रंग भी गिने-चुने—वही आदि-वासियो के प्रिय गहरे रग जो धरती पर प्रतिदिन नजर आते है। इस बात का यामिनीराय को सदैव ध्यान रहता कि वे कुछ इस तरह रंगो का प्रयोग करे कि उनके चित्र एक सुगठित और सम्पूर्ण इकाई का रूप लेते चले जाय। जैसा कि विष्णु दे ने स्वीकार किया है—'रग का यह उपयोग एशियाई कला मे दुर्लभ है। भारतीय चित्र कला के इतिहास मे कहीं-कही इसकी झलक मिल जाती है, यथा बसोली कलम के अथवा अजन्ता के चित्रों मे। किन्तु अजन्ता एक तो स्वय भारतीय कला का एक असाधारण युग है, दूसरे वह अनिवार्यत स्थापत्य पर आश्रित है। उसमे मध्यकालीन आख्यान-चित्रो जैसी प्रवहमानता है, जब कि यामिनीराय के चित्र स्वत सम्पूर्ण खण्ड-चित्र है। अजन्ता के अज्ञातनामा उस्तादों ने पत्थर की रूखी सतह पर रंगो की जो अनूठी झलक दर्शाई, उसकी साधना भी यामिनीराय को नहीं करनी पड़ी। यामिनीराय रग कैसे प्रस्तुत करते हैं, अथवा उनके उपयोग के कितने विभिन्न टेकनीक बरतते हैं, इसकी विवेचना यहां प्रासगिक नही, यहा इतना ही कहना यथेष्ट है कि अपने अनुभवो द्वारा उन्होने रग का अच्छा रासायनिक ज्ञान, और चित्रकारी के एक उपेक्षित अग—फलक की तैयारी (ग्राउंडिग) मे दक्षता प्राप्त की है।'

यामिनीराय की कल्पना इतनी सजग न होती तो कदाचित् वे अपने ईसा-सम्बन्धी चित्रो मे इतनी सफलता प्राप्त न कर सकते इन चित्रों पर वैष्णव प्रभाव प्रत्यक्ष है। ईसा के सन्देश का शाश्वत सत्य प्रकट करते समय यामिनीराय की कूचो को किसी प्रकार की संकीर्णता छू तक नहीं सकी।

जब अभी यामिनीराय की नई कला की कद्र करने वाले

आगे नहीं आये थे, वे 'लैंडस्केप चित्र' बनाकर घर का खर्च चलाने पर मजबूर हुए थे। स्वय यामिनीराय इन चित्रो को बहुत महत्त्व नही देते, हालाकि इनमे विशेष रूप से बांकुडा की धरती, जहा छोटी-छोटी झाड़िया बहुत होती हैं, नदी तट, पहाड़ियो के नीचे रेलवे लाइन इत्यादि के दृश्य बहुत सुन्दर है। उनकी पत्नी ने कहीं एक बार कह दिया—'छोडो बाकी चित्र। पोर्ट्रेट नही बनाते तो लैंडस्केप ही सही। पैसा तो आये।' कहते हैं इस पर यामिनीराय को बहुत क्रोध आया और वे झुंझला कर कह उठे थे'—'तुम यह सब जोर-जबर्दस्ती की बात करोगी तो मै एकदम चित्रकला से छुट्टी ले लू गा।'

यामिनीराय ने घोड़ो, हाथियो और गाय को भी नही भुलाया, न बिल्ली और हिरन और मछली को ही। इन चित्रो मे रेखाओ की विशेषता कलाकार के सिद्धहस्त होने का प्रमाण है।

कुछ दिनो से यामिनीराय 'टेपेरा' पर तैल रंगो के थिगरे लगा-लगा कर नये प्रयोग कर रहे हैं या फिर खुरदरे फलक पर अकित रेखा-चित्रो के लिए काजल के हल्के और गहरे लेप पर जोर देते है जिससे इन रेखाचित्रो मे कास-कार्य-सा प्रभाव पैदा हो जाता है और विशेषता यह रहती है कि प्रकाशमयता मे कहीं कुछ कमीं नहीं आती। विष्णु दे के कथनानुसार—'हमारे देश मे कोई भी आधुनिक -आन्दोलन यामिनीराय की शुद्ध रूप-साधना और बन्धन-मुक्तता को आधार बना कर ही आगे बढ़ सकता है। पिकासो जैसा प्रतिभाशाली कलाकार भी क्यों न हो, उसके अमूर्त्त रूपाकार के प्रयोगो से पहले किसी मातीस द्वारा रंग का पूरा अन्वेषण हो जाना आवश्यक है—यूरोपीय कला का ऐतिहासिक विकास इस बात का साक्षी है।'

× × ×

गत महायुद्ध के दिनों में विशेष रूप से अमेरिकन और

अगरेज कलाकारो ने, जो सैनिकों के रूप मे भारत आये थे, यामिनीराय को कला को बहुत प्रोत्साहन दिया, औब अब तो देश-विदेश की सीमाओ को पार करते हुए उसके चित्र उनकी ख्याति का प्रसार कर रहे है । इस ख्याति के साथ कलाकार को अब धन की भी कमी नहीं रही । अनेक कलाकार उनकी सफलता पर नाक-भौं चढ़ाते है और कहते हैं वे तो एक-एक चित्र की बीसियों अनुकृतिया दे छोड़ते है और वे भी सस्ते दामों पर, और इस प्रकार उन्होंने चित्रकला को रुपया कमाने का धन्धा बना लिया है। शायद इस आलोचना मे कुछ लोगो को तथ्य भी नजर आया। पर यह कहा जा सकता है कि कला का प्रसार किसी प्रकार अनुपयुक्त नही। क्योंकि कला को तो घर-घर पहुचाना है, और वह भी कला-प्रेमियो की जेब के अनुकूल मूल्य पर। यदि उच्च-वर्ग के धनी कलाप्रेमियो तक ही कला को सीमित रखा जाय तो लोक कला का तो कुछ महत्त्व ही नहीं रह जाता। यामिनीराय लोक-कला के इस पक्ष से सुपरिचित है और अपने दायित्व को खूब पहचानते है।

स्वतन्त्र भारत मे यामिनीराय जैसे लोक-जीवन के कला-शिल्पी का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल होना चाहिए। प्रत्येक प्रान्त और जनपद के एक-एक ग्राम मे छोटे-मोटे कला-भवन की नींव रखी जानी चाहिए, जहां अनेक चुने हुए चित्रों मे सब से अधिक, प्रभाव यामिनीराय का ही पडेगा। क्योकि इनमे जनता को अपना चेहरा नजर आयेगा और हर कोई देखेगा जन जीवन की शत-सहस्रो परम्परा अपने बहुमुखी सौंदर्य बोध को पा रही है।

राहुल सांकृत्यायन

राहुल से केवल एक बार भेंट हुई, और वह भी लाहौर मे—उनकी इस रूस-यात्रा से पूर्व। यों लगा कि शत-शत मुलाकातों का आनन्द आ गया। राहुल साकृत्यायन की 'वोल्गा से गंगा' का पंजाबी मे अनुवाद किया जा रहा था, और इसी सिलसिले में कुछ नये पंजाबी लेखक एक प्रकाशक के यहा एकत्र हुए और वही राहुल को भी निमंत्रित किया गया। बहुत बात हुई। किसी-किसी लेखक ने आवश्यकता से कही अधिक पजाबी साहित्य की आधुनिक प्रगति की गाथा छेड दी, और मुझे पग-पग पर यह भय लगा रहा कि कही राहुल ऊब कर यह फैसला न कर ले कि भविष्य मे कभी पंजाबी लेखको का बुलावा स्वीकार नहीं करना होगा। परन्तु जब राहुल से कहा गया कि अब आपकी बारी है, आप हमे कुछ सुनायें, तो उन्होने मुसकरा कर यही कहा, 'मैं तो यहां आप लोगों की बाते सुनने आया हूँ, बल्कि यदि आप उर्दू या हिन्दी में बोलने का यत्न न करें और पजाबी में ही बोलें तो भी मैं कुछ-कुछ तो समझ ही लूंगा। मैं तो, जैसा कि सब जानते है, मातृभाषाओं का पक्षपाती हूँ। मैं तो किसी

जमाने मे लाहौर मे रह चुका हू। अतएव पजाबी शब्दो की ध्वनियां मेरे मन की गहराइयों मे अभी तक गूंज रही है। एक बात और भी तो है। मेरे मित्र आनन्द कौसल्यायन यद्यपि लिखते तो हिन्दी मे हैं परन्तु अपनी मातृभाषा पजाबी के प्रति उनका अनुराग कुछ कम नहीं है, और यदा-कदा मैंने उनके मुख से भी पजाबी की खूबियां सब सुन रखी है।' मुझे याद है कि राहुल का यह रुख देखकर कुछ प्रगतिशील कवियो ने अपनी पंजाबी कविताएं भी सुना डाली थीं, और राहुल की सहायतार्थ वहीं बैठे-बैठे इनके अनुवाद भी कर डाले गये थे। राहुल से कई प्रश्न पूछे गये, जिनके उत्तर देते समय राहुल कभी जरा गम्भीर हो जाते और कभी हलकी-फुलकी भाषा मे बोलने लगते। अधिक प्रश्न ऐसे थे जिनसे पता चला कि उनकी यात्राओं के प्रति हर कोई उत्सुक है। राहुल सांकृत्यायन न कह कर केवल राहुल कहना ही मुझे प्रिय लगता है। एक तो इसलिए कि सांकृत्यायन भारी-भरकम शब्द है। दूसरे इसलिए कि केवल राहुल कहने से बुद्ध पुत्र की याद ताजा हो जाती है, जैसा कि मैंने उस दिन पजाबी साहित्यिकों के इस सम्मानित अतिथि से साफ-साफ कह दिया था।

इस साहित्य-गोष्ठी के पश्चात् उस दिन बहुत देर तक राहुल जी से बाते हुई। मैंने कहा, 'पिछले दिनो आनन्द कौसल्यायन के साथ सिंध और बम्बई की यात्रा करने का अवसर मिला तो आपके सम्बन्ध मे प्राय रोज ही कोई न कोई बात चल पडती, और कभी-कभी तो यों प्रतीत होता कि आप ही इस गीत की टेक हैं।'

राहुल झट कह उठे—'यह मत सोचिये कि हम पहली बार मिल रहे है।'

मैंने कहा—'हैदराबाद सिंध की वह रात मुझे कभी नहीं

भूलेगी जब अचानक नागार्जुन से भेंट हो गई, और हमने रतजगा किया। बात पर बात। गाथा लम्बी होती चली गई, जैसे चर्खा कातते समय कोई ग्रामीण नारी बारीक तार निकालने लगे और पूनी खत्म होने ही मे न आय, या यह कहिये कि वह इस होशियारी से एक पूनी खत्म होने पर दूसरी पूनी से तार निकालना शुरु कर दे कि पता ही न चले कि कब नई पूनी शुरु हुई। तार पर तार। गाथा लम्बी होती चली गई, और इस गाथा मे बार बार आपका नाम प्रतिध्वनित हो उठा।'

अब के राहुल के मुख पर हलकी-सी मुसकान बिखर गई। बोले 'आपने तो कविता शुरु कर दी। अच्छा हो कि आप किसी चर्खा कातने वाली का गीत ही शुरु कर दे।'

मैं भी उत्सुक हो उठा। झट एक गान के स्वर मेरे मानस मे जाग पडे। मैंने कहा, 'तो सुनिये—

तन्दनहियो टुट्टदी पूणी न हिया मुक्कदी
सस्सू न हिया अहदी—'पाणिए नूं जा।'

तार नही टूटता। पूनी भी खत्म नही होनी। न सास ही यह कहती—पानी लाने चली जा।

'यह कहा का लोकगीत है?' राहुल ने पूछ लिया।

'कागडे का' मैंने उत्तर दिया।

'वे सम्भल कर बोले, 'सुन्दर चित्रण है। ग्राम की नारी। सास का डर। विवश होकर चर्खा कातते रहने की मर्यादा। कुछ अवकाश नही। इस अवस्था मे नारी यही तो सोचेगी कि काश तार टूट जाय और इसे जोड़ने के बहाने ही कुछ आराम की सांस मिल जाय। या यदि सास यह कह उठे कि उठ बहू झरने से पानी भर लाने का समय हो गया, तब तो काम ही बन जाय। कहिये मैंने कहीं गलत व्याख्या तो नहीं कर दी?'

'यही तो गीत का मर्म है', मैंने जैसे खुशी से उछल कर कहा।

राहुल को झट कांगड़ा कलम का ध्यान आ गया। बोले, 'वे चितेरे भले ही न रहे हों पर उनके चित्र आज भी उनकी प्रतिभा की याद दिलाते है, और सच पूछो तो मालूम होता है कांगड़े के लोकगीत भी कांगड़ा कलम से सम्बन्धित है। वही रंग, वही रेखायें, वही जीवन मे आस्था।'

मैंने किसी कदर उछल कर तिब्बत की बात छेड दी। 'जब आप १६३८ मे चौथी बार तिब्बत जा रहे थे तो मेरा इतना सौभाग्य कहां था कि मै कलकत्ते मे आपसे मिल पाता। चित्रकार केवलकृष्ण उन दिनों आपके साथ तिब्बत गया था न।'

'यदि आप मिल गये होते तो आपको भी तिब्बत ले चलता,' राहुल ने हस कर कहा, 'केवल बैठा चित्र बनाता, तुम घूम फिर कर तिब्बती लोकगीत जमा करते।

'मै आपके चल पड़ने के बाद पहुँचा राहुल,' मैंने जैसे मन को टटोलते हुए कहा, 'खैर मै न जा सका तो क्या हुआ, आप भी तो तिब्बती लोकगीतों के कुछ बोल लेते आये थे। एक गीत तो सचमुच बहुत बढ़िया था जिसमे एक तिब्बती युवती को एक उपत्यका में स्वतत्रतापूर्वक विचरण करते हुए दिखाया गया है। आप तो धर्म ग्रथों की खोज मे गये थे। लोकगीत की वाणी भी आपके कानों तक पहुँची और आपकी लेखनी ने झट से इसे कागज़ पर उतार लिया, यह कोई कम बात नही।'

'यह तो एक बहाना मात्र था। एक दिन तुम वहा जरूर पहुंचोगे मुझे मालूम है, और जिस प्रकार मै वहा से लुप्त ग्रथो का अनमोल ज़खीरा लेकर लौटा था, तुम भी वहा से लोकगीतो की अमर निधि लेकर इससे भारत और विश्व का परिचय कराओगे।'

मै कुछ सकुचा-सा गया। झट नागार्जुन की बाते मेरे सम्मुख तैरने लगीं। राहुल का जन्म का नाम है केदारनाथ पाण्डे।

आजमगढ जिले मे उनका जन्म हुआ था। बचपन नाना के यहां गुजरा। नाना पक्के शिकारी थे। नाना की कहानियो ने ही उन्हे स्वप्नदर्शी बना दिया था। ग्यारह वर्ष की आयु मे उनका विवाह हो गया। पर थोड़ी समझ आने पर वे घर से ऐसे भडके कि पचास वर्ष की आयु तक आजमगढ़ जिले मे पैर नही रखने का प्रण कर लिया। घर छोडने के बाद १६४३ मे केवल चार घंटे के लिए ही वे अपने जन्म-ग्राम कनेला मे गये थे। शुरू-शुरू मे घर से भाग कर वे चार महीने कलकत्ते मे गुजार आये थे। दूसरी बार भागने के बाद घर लौटे तो तीसरी उड़ान मे हिमालय तक चले गये। चार-छै महीने उत्तराखण्ड की सैर करते रहे। फिर काशी मे संस्कृत पढ़ने लगे। इसके लिए पिता ने मजूरी दे दी थी। एक बार दशभुजा दुर्गा मा साक्षात् करने के लिए हठपूर्वक उन्होंने यह शपथ खा ली कि देवी दर्शन नहीं देगी तो प्राण दे दूंगा। अब भला देवी के दर्शन कैसे होते। उन्होने धतूरा खा लिया। यह तो खैर हुई कि मित्रों को पता चल गया और उन्हे किसी प्रकार बचा लिया गया। फिर वे एक महन्त के हत्थे पड़ गये। बूढे महन्त कहा करते, 'अब तुम्हारा नाम केदारनाथ पांडे, रामउदार दास। तुम एक लखपति महन्त के उत्तराधिकारी हो। बहुत पोथियां पढ़ लीं। अब मठ का काम सम्भालो। देखना यह सौ-पचास मूर्तियो को रोज़ प्रसाद चढ़ाने की मर्यादा बनी रहे।' फिर हम रामउदार दास को महन्त के चगुल से निकलते देखते है। मठ से भाग कर वे दक्षिण भारत की यात्रा पर चल पड़े। दक्षिण भारत से लौटने पर साधु राम-उदार आर्यसमाज के प्रभाव मे आ गये—१६१५ से १६२२ तक मुसाफिर आर्य विद्यालय आगरा में यह नया परिच्छेद शुरू हुआ। फिर लाहौर आकर संस्कृत का अध्ययन किया। घुमक्कड़ी और बे टिकट की रेल-यात्रा—यही क्रम चलता रहा। पंजाब में

जलियावाला का हत्याकांड देखने के पश्चात् वे कांग्रेस की ओर आ गये। बिहार का सारन जिला कर्म-भूमि बना, जहां से वे कानपुर गये और गोहाटी के अधिवेशनों मे प्रतिनिधि रूप मे सम्मिलित हुए। फिर हम उन्हे लका अथवा सिंहल मे देखते है। विद्यालङ्कार परिवेण (केलनिया) मे अध्यापन कार्य १६२७-२८ मे सस्कृत का अध्यापन और पालि त्रिपिटक का गम्भीर अध्ययन और मनन।

मैने कहा, '१६४० मे जब मै लङ्का मे था तो मुझे आपके गुरुवर धम्मानन्दजी से भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे आपको खूब याद कर रहे थे। मैंने उनसे जब यह जिक्र किया कि आप एक रूसी स्त्री से विवाह करके अब गृहस्थ मे आ गये है तो उन्होंने केवल यही कहा कि बौद्ध-धर्म मे भिक्षु के लिए गृहस्थ का द्वार सदा खुला रहता है। और मुझे यह जानकर बहुत खुशी हुई कि आप और आनन्द कौसल्यायन एक ही गुरु के शिष्य हैं।" राहुल ने किसी कद्र मुसकरा कर बात का रुख तिब्बत की ओर मोड़ते हुए कहा, 'सन् १६३० में जब मैं तिब्बत पहुचा तो धम्मानन्दजी ने यह देखकर कि नेपाल और तिब्बत मे युद्ध की आशका है आनन्द जी को लिखा था, "फौजी लोग नहीं समझते कौन पंडित है कौन मूर्ख। लड़ाई छिड़ने जा रही है। उन्हे लिखो कि शीघ्र जैसे बने लौट आये।' इसके उत्तर मे मैंने लिख भेजा था, 'कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्—जिन समस्त ग्रन्थों का उद्धार करने की इच्छा से यहा आया हूँ उन ग्रन्थो के साथ ही तिब्बत से लौट सकता हूँ। गुरुवर धम्मानन्दजी ने दो दिन के भीतर तीन हजार रुपयों की व्यवस्था कर दी और तार दिलवाया कि अपेक्षित ग्रन्थों के साथ शीघ्र लौटूं। मुझे याद है मै सत्रह खच्चर ग्रन्थ लादकर लाया। यह समस्त वांमय पटना म्यूजियम मे सुरक्षित पड़ा है।

मै कुल चार बार तिब्बत गया। आचार्य धर्मकीर्ति (सातवी शताब्दि के पूर्वार्धवर्ती) की सुविख्यात परन्तु लुप्त कृति—प्रमाणवार्तिक मूल रूप मे मुझे प्राप्त हुई तो यह समाचार जान कर प्राच्य दर्शन के पाश्चात्य मनीषियो ने मुझे समुद्री तार से बधाइयां भेजीं।'

मैने तिब्बती चित्रपटों की बात छेड दी, 'एशिया पत्रिका मे तिब्बती चित्रकला पर आपका लेख पढ़ कर मन उछल पडा था।'

'इतना कहना काफी है कि वह लेख आपको पसन्द आया,' कह उठे, '१६३२ मे २२-२७ नवम्बर के दिनों मे पेरिस मे संग्रहीत तिब्बती चित्रपटो की प्रदर्शनी हुई थी। सब ने जी खोल कर तिब्बती तूलिका की दाद दी। आलोचकों के कथनानुसार यह प्रदर्शनी अपूर्व थी। अब वे चित्रपट भी सबके सब पटना म्यूजियम मे पडे है।

'पटना म्यूजियम को तो आपने पालि साहित्य और तिब्बती चित्रकला का तीर्थ बना दिया,' मैने गर्व से कहा।

सन् १६३२ मे राहुल ने आनन्द कौसल्यायन को एक पत्र मे लिखा था, 'बौद्ध ग्रन्थो को हिन्दी में लाने की पचवर्षीय योजना बनाई है। मज्झिम निकाय के तीन सूत्र प्रतिदिन के हिसाब से अनुवाद कर रहा हूँ। कभी-कभी मन उचटता है। आराम करना चाहता है। तब कहता हूँ, 'अरे! आराम करने का समय ५० वर्ष के बाद आता है तब भी कभी-कभी उचटता है, तब कहता हूँ, 'अरे! काम कर प्रशंसा के मीठे लड्डू खाने को मिलेंगे। तब भी कभी कभी उचटता है। तब उसे जबर्दस्ती पकड़ कर जोत देता हूँ। आनन्द कौसल्यायन के जातक सम्बन्धी कार्य की उन्होने बहुत प्रशंसा की। बोले '१६३५-३६ में तो काम का यह हाल रहा कि २४ घंटों मे मुश्किल से तीन-चार घंटे सोने के नाम पर खर्च होते थे। शेष समय मे काम का चक्र चलता था।'

यह बात बहुत हद तक सही है कि राहुल अवकाश, विराम और विश्राम नही जानता। प्रतिष्ठा और सम्मान के पीछे दौडना कभी उनका ध्येय नहीं रहा। नागार्जुन के शब्दो मे बहुधा ऐसा अवसर भी आया जब कि अपना प्रिय औज़ार एक ओर रख कर वह उठा और स्वाधीनता-कामी सैनिको की अगली कतार मे जा खडा हुआ। एक-आध वार उसका शरीर क्षतविक्षत हुआ है, स्वतन्त्रता के शत्रुओ ने उसका सर तक फोड़ डाला था .'

नागार्जुन ने यह भी हिसाब लगाया है कि राहुल-साहित्य २१००० पृष्ठ तक पहुँच गया है, जिसमे ६००० पृष्ठ रायल साइज़ के है। अनुवाद, सम्पादन, सार-सकलन, मौलिक, इसमे सभी तरह की चीजे हैं। अगरेजी, बगला, गुजराती, मराठी, तामिल, उर्दू, सिधी, और पजाबी मे राहुल-साहित्य का हिसाब लगाना अभी बाकी है। धर्म, दर्शन, कथा उपन्यास, साम्यवाद, राजनीति, विज्ञान, पुरातत्व, इतिहास, जीवनी, भाषा-विज्ञान, आलोचना, यात्रा-वृत्तान्त कोष, स्वयं शिक्षक—ये सब विषय राहुल-साहित्य मे समा गये है। पिछले वर्ष मे इस साहित्य का निर्माण हुआ है।

नागार्जुन ने तो ठीक ही चित्रण किया है। 'दो-चार घूंट पीकर बची हुई चाय उनकी ठण्डी हो जाती है या दो एक कश खींचकर बाकी बचा सिगरेट जलता-जलता उनकी अगुली को छू लेता है और मै सोचता हूँ—यह व्यक्ति महापडित मात्र ही नहीं है बल्कि अनागत की ओर भी धावित होता रहता है। ऐसा उद्बुद्ध अंत करण लेकर ऐसी जागरूक चेतना पाकर, कोई अपने को कैसे रोक सकता है ? गर्मा-गर्म राजनीति और उग्रतम विचारो से वह कब तक अपने को अलहदा रखेगा ? राहुल की आयु के सात साल जेलो में बीते है। उनकी राजनीतिक प्रवृत्तियों

का समाचार सुनकर बहुत सारे मित्रों ने उन्हें अदूरदर्शी तक कह डाला है। अनेक हितैषियों ने समय-समय पर सलाह दी है—आप अपने को साहित्यिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में सीमित रखिये। यह सब सुनकर राहुल अपना बाल-सुलभ सरलता से मुसकरा उठे हैं, परन्तु युग का आह्वान कान में पड़ते ही दुष्प्राप्य लिपि वाले तालपत्रों को वेष्टनी में बाधकर एक ओर रख दिया, मैग्निफाइंग ग्लास को दूसरी ओर और जा मिले सत्याग्रहियों में सविनय अवज्ञा-भंगकारियों में, किसान कार्यकर्ताओं में, साम्य-वादियों में राहुल ने मुर्दों की खोज छोड दी, जिन्दों की सुधि लेना और उन्हें अधिक से अधिक सचेत करना आरम्भ किया। दूसरी बार (१९३७) जब रूस से लौटे तब से उन्होंने वही लिखा है। जनता को इसकी आवश्यकता थी, लोकतन्त्र को अकलुष और स्फूर्तिमय बनाने वाला उनका यह साहित्य देश के कोने-कोने में पहुँचा है। नगर, ग्राम, निगम, जनपद—सभी जगह गया है। किसान, मजदूर, अध्यापक, छात्र, निम्न और मध्यवर्ग के व्यापारी और जमींदार, डाक्टर, इंजीनियर, वैज्ञानिक—राहुल-साहित्य के पाठकों का समुदाय बहुत विशाल है।

सुना है कि इस बार ढाई साल तक रूस में रह कर राहुल ने बहुत-सी पुस्तकों के लिये सामग्री जुटाई। मध्य एशिया की जातियां, वहां का नृत्य, भाषा-तत्व, भूगोल आदि अरबी, फारसी, रूसी, चीनी और मंगोल स्रोतों से संकलित किये गये हैं। नागार्जुन ने हिसाब लगाया है कि कोई ३००० पृष्ठ का साहित्य तैयार करने योग्य सामग्री राहुल के नोट्स में सुरक्षित है। सदरुद्दीन ऐनी के दो ताजिक उपन्यासों के अनुवाद, ८०० पृष्ठ की दिनचर्या (ईरान और सोवियत के पिछले प्रवास की गाथा) इस सामग्री से अलग है।

प्राच्यविद्या सम्मेलन (बड़ौदा) की हिन्दी शाखा के

सभापति १९३३ मे राहुल ही थे। फिर १९३९ मे बिहार प्रांतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए। १९४० मे किसान-सभा के सभापति, और इसी वर्ष इलाहाबाद मे अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के सभापति, और इसी वर्ष बम्बई मे होने वाले हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन के सभापति भी राहुल ही चुने गये हैं।

सोचता हू कि राहुल का अभिनन्दन तो समस्त लेखक-वर्ग का अभिनन्दन है—मेरा अपना अभिनन्दन भी। आज जब कि स्वतन्त्र भारत मे हिन्दी राष्ट्र-भाषा होने जा रही है, राहुल जैसे व्यक्तित्व की छाप लगने से हिन्दी का मार्ग सीधा और साफ होता चला जायगा।

मेरे सम्मुख राहुल की वह मुखाकृति उभरने लगती है जिसे मैंने लाहौर की उस पजाबी साहित्य-गोष्ठी मे समीप से देखा था। धीर-गभीर मुखाकृति और इस पर कहीं-कही बिखरती हुई मुसकान, जैसे पहाड़ पर एक ओर धूप हो और दूसरी ओर छांह, इस धूप-छाह का शताशत आह्वान, इसे शत-शत प्रणाम, इसका शत-शत अभिनन्दन।

गांधी जयन्ती

काका कालेलकर का यह कथन कि हर साल की गांधी-जयन्ती मे कुछ-न-कुछ विशेषता तो होती ही है, आज और भी सत्य प्रतीत होता है। क्योकि स्वतन्त्र भारत मे हम पहली गाधी-जयन्ती मनाने जारहे हैं।

गाधीजी के निकटवर्त्ती उन्हे 'बापू' कह कर बुलाते है। सच पूछो तो 'बापू' बहुत प्रिय शब्द है, और किसी को यह मानने मे तनिक सकोच नहीं होगा कि गांधीजी ने अपनी जीवन-कला की सहायता से इस घरेलू से शब्द को देशव्यापी स्वरूप दे दिया है। यह ठीक है कि भारत की स्वतन्त्रता का आन्दोलन गाधीजी के सम्मिलित होने से पहले ही आरम्भ हो चुका था, परन्तु इसकी रूप-रेखा को गाधीजी ने अपने हाथों से संवारा, उन्हीं की आवाज सुनकर देश की जनता इधर को लपकी, उन्हीं की देख-रेख मे सत्याग्रह और असहयोग के हथियार जनता को प्राप्त हुए। उन्होने 'हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई' की विचारधारा का परवान चढ़ाया, उन्हीं के व्यक्तित्व की छाप अहिंसा की गति-विधि पर लगी। सन् '४२ में 'भारत छोड़ो' का नारा भी पहले-

पहल गाधीजी ने ही बुलन्द किया और उससे पूरे पॉच वर्ष के पश्चात् १५ अगस्त के दिन भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई तो समस्त राष्ट्र ने उन्हे राष्ट्र-पिता के रूप मे पहचान कर अपना कर्त्तव्य पूरा किया। आज जब कि हम स्वतन्त्र भारत मे पहली गांधी जयन्ती मनाने जा रहे है, 'बापू' शब्द हमे और भी प्रिय लगता है और हम समस्त विश्व के सम्मुख इसी शब्द के साथ उनका अभिनन्दन करते है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की एक कविता की कुछ पक्तियॉ मेरे कानो मे गूजने लगी है—

तोमार कीर्तिर चेये तुमि जे महत,
ताइ तव जीवनेर रथ
पश्चाते फेलिया जाय
कीर्ति रे तोमारीबार बार।

अर्थात्—'तुम अपने यश की अपेक्षा महत् हो। इसीलिये तुम्हारे जीवन का रथ तुम्हारे यश को बारंबार पीछे छोड़ जाता है।'

स्वतन्त्र भारत मे मनाई जाने वाली गांधी-जयन्ती के शुभ अवसर पर कवि की यह आवाज और भी महत्वपूर्ण प्रतीत होती है। यह तो स्पष्ट है कि कवि की वाणी का इस स्थल पर आध्यात्मिक रूप ही मुख्य है। परन्तु गाधीजी के व्यक्तित्व पर भी कवि की सूक्ति पूरी उतरती है। गांधी जी के जीवन का रथ उनके यश को पीछे छोड़ते हुए निरतर गति से आगे ही आगे बढ़ रहा है।

मां का दूध पीता हुआ शिशु प्रार्थना-सभा मे 'बापू' को देखता है। खेल में निमग्न बालक खेल भूलकर 'बापू' की ओर देखने लगता है। युवक और वृद्ध, नारी और नर, सभी गांधी-जी की बात सुनते है। और सच पूछो तो सुदूर ग्राम मे रहने

वाला किसान भी बाहर से आने वाले व्यक्ति से यही प्रश्न करता है—कहो गांधी बाबा आजकल कहा है, कैसे है ? बडे घरेलू रूप मे हर कोई यह जानना चाहता है कि गाधीजी अब क्या करने जा रहे है। जैसे समस्त देश एक परिवार हो, और अपने इस अगुआ का सहारा तक रहा हो।

सत्य-निष्ठा ही गांधीजी की साधना रही है। राजनीतिक आन्दोलन मे सत्य-निष्ठा की मर्यादा स्थापित करने का श्रेय गांधीजी को ही मिलना चाहिए। वकील बनकर दक्षिण अफ्रीका मे गये थे। परन्तु वे एक व्यक्ति के वकील बनने के स्थान पर समस्त जाति के वकील बन गये। पूरे सेनानी। पूरे सत्याग्रही। दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो को बराबरी के राष्ट्रीय अधिकार अभी तक नहीं मिले। किन्तु यह प्रत्यक्ष है कि आज यदि साथी देशों की परिषद मे दक्षिण अफ्रीका के भारतीयो के हक मे अनेक राष्ट्र अपनी आवाज बुलन्द कर रहे है तो इसका श्रेय सचमुच गांधीजी को ही है जिनका सहयोग दक्षिण अफ्रीका के भारतीय आन्दोलन को सर्वप्रथम प्राप्त हुआ था। दक्षिण अफ्रीका से लौट कर गांधीजी भारत मे आये। स्वराज्य मागने से नही मिलेगा—यह आवाज खद्दर की टोपी पहनने वाले एक दुबले-पतले व्यक्ति के कठ से उत्पन्न हुई। यही गाधीजी थे। खद्दर की टोपी गांधी-टोपी कहलाई। १९२१ मे तिलक का देहान्त होने पर राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर गांधीजी के हाथ मे आई। ये वे दिन थे जब सत्याग्रह आन्दोलन जोरो पर चला। गांधी टोपी पहनना जुर्म था। 'वन्देमातरम्' गान पर भी रोक थी। इन्ही दिनो की एक दिलचस्प घटना पुराने सत्याग्रहियों को आज भी याद है। एक जलूस निकल रहा था। दाएं-बाएं शौकतअली और मुहम्मदअली बीच मे गाधीजी। भीड़ को चीरता हुआ एक सिख आगे आया। बोला—गाधी बाबा कौन है ? किसी ने

बताया—'दाएं शौकतअली है, बाएं मुहम्मदअली, और बीच मे गाधी बाबा बैठे है। वह सिख जाट बहुत हैरान हुआ। बोला—ये शौकतअली और मुहम्मदअली तो फिर भी कुछ है। यदि वे अंगरेज के एक घूंसा भी दे मारे तो शायद अगरेज उठ न सके। पर यह गांधी बाबा तो कुछ नहीं कर सकते—यह दुबला-पतला आदमी क्या कर सकता है। मै तो समझता था कि गाधी बाबा कोई बहुत बडा भैसा है जिसके आगे अगरेज सरकार भागी जा रही है। पर यह गाधी बाबा तो बहुत कमजोर है' . सब हैरान थे। पर उन्हे और भी हैरान करते हुए वह भिख जाट कह उठा, 'गांधी बाबा, जरा पैर बढ़ादो। 'लाओ मैं इन्हे छू लूं।' राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास मे गाधीजी का अद्वितीय स्थान रहा है। गांधीजी ने इसे गति भी दी है और दिशा पर जोर भी दिया। हरिजन आन्दोलन ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन को शक्ति दी। फिर यूरोपीय महायुद्ध छिड गया। गांधी जी ने हिन्दुस्तान की ओर से आवाज उठाई—इस युद्ध मे केवल प्रेक्षक बन कर नहीं रह सकते ससार को विनाश से बचाने के लिए हमे अपनी नीति निश्चित करनी होगी। कहते है गांधीजी का वह भाषण जो उन्होंने अढ़ाई घन्टे तक बम्बई मे कांग्रेस के खुले अधिवेशन मे दिया था, 'भारत छोडो' प्रस्ताव की व्याख्या के रूप मे भारतीय इतिहास मे सुनहरे अक्षरों मे लिखने योग्य है। युद्ध चलता रहा, और काग्रेस के नेता जेलों मे ठूस दिये गये। आखिर युद्ध बन्द हुआ। गाधी जी और सारे अन्य नेता बाहर आये। अगरेज ने कहा—'भारत छोड़ो' प्रस्ताव को कांग्रेस वापस ले ले। परन्तु देश जाग उठा था और गांधीजी देश की शक्ति पहचानते थे। 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव वापस नहीं लिया गया। अंगरेज ने एक बार फिर से गौर किया। जल्दी-जल्दी रंगभूमि पर कई परदे उठे और गिरे—

आखिर गाधी जी ने कड़वा घूंट पीकर देश का बंटवारा भी मान लिया और १५ अगस्त के दिन देश को स्वतन्त्रता मिल गई। गांधीजी उस दिन कलकत्ता मे थे। सब खुश थे। परन्तु एक बार फिर हिन्दु-मुस्लिम दगे शुरू हो गये। गाधीजी ने 'इन्हे बन्द करने के लिए अनशन रखा। किसी को आशा न थी कि कलकत्ता मे शान्ति हो जायगी। गांधीजी ने मृत्यु से बाजी लेली। देश का सौभाग्य कि कलकत्ता मे शाति हो गई। कलकत्ता से लौटकर आजकल वे दिल्ली मे शान्ति स्थापित करने मे सलग्न है।

गाधीजी की आवाज मे आज वेदना के स्वर गूंज उठते है। वे कहते है, 'मुस्लिमो को भारत से तथा हिन्दू और सिखो को पाकिस्तान से निकाल बाहर करने का अर्थ होगा युद्ध और देश की सर्वकालीन तबाही और बरबादी। यदि इस आत्म-घाती नीति का अवलम्बन दोनो उपनिवेशो मे किया गया तो वह पाकिस्तान तथा भारतीय सघ मे क्रमश इस्लाम और हिन्दू धर्म की कब्र खोद देगी। बदला लेने की बात ठीक नही। जलियावाला बाग मे जिनका खून साथ-साथ बहा है वे अब एक-दूसरे को अपना दुश्मन कैसे समझ सकते है? जब तक मेरी चलती रहेगी, मै ऐसा नही होने दूंगा। पूर्वी पंजाब को ५७ मील लम्बा काफिला आ रहा है। यह ऐसा क्यो? इतना बड़ा काफिला दुनिया के इतिहास मे कभी नही सुना गया। यह समय पागलपन दूर करने का है। विद्रोही कोई भी क्यो न हो उसे सजा दीजिये। विद्रोहियो को हमेशा गोली से उड़ाया गया है। भूतपूर्व भारत मंत्री श्री एमरी के विद्रोही लड़के तक को प्राण-दण्ड दिया गया। किन्तु मेरा दण्ड विद्रोहियों के लिए भी इस प्रकार का नहीं है।'

किन्तु गांधीजी की वेदना-पूर्ण आवाज के नीचे से प्रायः उनका विनोद उभर आता है। पिछले दिनों एक बार उन्होंने

लेखक का उत्तरदायित्व

हिंदी साहित्य के एक प्रसिद्ध लेखक ने देश के एक राष्ट्रीय नेता से हुई अपनी बातचीत का उल्लेख करते हुए एक बार मेरे सामने इस बात पर बडी चिन्ता प्रकट की कि राजनीतिक क्षेत्र मे लेखक की कोई खास पूछताछ नहीं। बात यों हुई कि उक्त महोदय ने बड़े उत्साह से स्व० प्रेमचन्द का कोई स्मारक स्थापित करने का प्रस्ताव रखा था। इस पर उन्हे उत्तर मिला, 'बेचारे प्रेमचन्द! वह ठीक रास्ते की ओर आ ही रहे थे कि चल बसे।'

मेरे लेखक मित्र यह मानने के लिए तैयार नहीं थे कि प्रेमचन्द जीवन-पर्यन्त ठीक पथ से भटके रहे और केवल अपने अन्तिम दिनों मे ही ठीक रास्ते की ओर अग्रसर हो रहे थे। मैंने उनसे कहा, 'हमारा काम है लिखना। हमें यह चिन्ता क्यों हो कि राजनीति मे हमारी पूछताछ होती है या नहीं। बेचारे राष्ट्रीय नेताओं को इतना समय ही कहां मिलता है कि वे बैठ कर एक-एक लेखक की एक-एक रचना पढ़ जायं?'

'हां, हां,' मैंने हंस कर कहा, 'उस एक कवि की बात तो

आपने सुन रखी होगी जो गाधीजी के पास अपनी कविताओं का नया संग्रह लेकर पहुचे और उनसे सम्मति मागी। गांधीजी ने क्या कहा, यह तो कोई वही व्यक्ति बता सकता है। जो उस समय वहा उपस्थित रहा हो, पर वहा से लौटते समय उस कवि महोदय ने उद्योग सस्था से मधु की एक बोतल खरीद ली और वापस आकर अपने मित्रो से कहा—'गांधीजी को ये कविताएं इतनी पसन्द आई कि उन्होने कहा, मैं तो चाहता हूँ कि सरकार मुझे जल्दी ही जेल मे भेज दे और वहां आराम से मै इन कविताओ का रस ले सकूं, और इसी रस के प्रतीक के रूप मे उन्होने मुझे यह मधु उपहार मे दिया है।'

यद्यपि मेरे मित्र उस समय हंसने की बजाय गभीर चर्चा के लिए ही अपने को तैयार कर चुके थे, तो भी उक्त कवि महोदय की चर्चा से हमारी बातचीत का रग ही बदल गया।

फिर से प्रेमचन्दजी की चर्चा आरम्भ करते हुए उन्होने कहा, 'प्रेमचन्द ने जिस प्रकार शुरू से आखिर तक लेखक की जिम्मेदारी को निभाया उसे देखते हुए यदि हम उनका कोई स्मारक प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे तो यह सचमुच हमारा और हमारे साहित्य का दुर्भाग्य ही तो होगा।'

मैंने कहा, 'प्रेमचन्द का स्मारक प्रेमचन्द का साहित्य है, आप यह मान कर क्यो नही चलते ?'

'सो तो ठीक है।'

वह बोले, 'फिर भी क्या इसी से हमारी तसल्ली हो जानी चाहिए ?'

मैंने कहा, 'दूर क्यों जॉय ? हँस को लीजिए। हम यह क्यों न मान ले कि यह प्रेमचन्द का स्मारक है ?'

इस पर हम एकमत थे कि प्रेमचन्द ने स्वाधीनता के सिंह-द्वार की ओर अग्रसर होती जनता को चेताने मे कोई कसर उठा

नही रखी थी और जब भी इस देश के राष्ट्रीय साहित्य का इतिहास लिखा जायगा, उसमे प्रेमचन्द का विशेष उल्लेख रहेगा, क्योकि किसी भी देश या राष्ट्र को प्रेमचन्द जैसे लेखक पर गर्व हो सकता है।

स्वान्त सुखाय का आदर्श मेरे मित्र को अप्रिय नही पर वह लेखक की जिम्मेदारी की बात को भी सब समझते है। आदर्श की पूर्त्ति मे भी स्वान्त सुखाय की भावना रह सकती है, यह वह मानते है। निरा स्वान्त सुखाय वाला साहित्य भी बहुमूल्य हो सकता है, पर जिस युग मे लेखक रहता है उसकी छाप तो उसकी रचना पर पडेगी ही, चाहे वह कितना ही बचने का यत्न क्यो न करे। जीवन मे जो कुछ रहता है उसी का चित्रण तो लेखक को करना होता है, क्योकि इसी प्रकार वह एक युग-पुरुष के रूप मे युग की वाणी का माध्यम बनने मे समर्थ हो सकता है। सास्कृतिक विकास की सीमाए लेखक को घेरे रहती है, यह तो प्रत्यक्ष है। वाल्मीकि और तुलसी या कालिदास और रवीद्रनाथ सब अपने-अपने युग के प्रतिनिधि हैं, क्योकि उनका काव्य एक व्यक्ति का काव्य होने की बजाय समष्टि का काव्य बन जाता है। यह अलग बात है कि उच्च-कोटि के साहित्यकार सदेव कुछ इस प्रकार अपने युग को देखते है और कल्पना के सामजस्य द्वारा अपनी रचनाओ को कुछ ऐसा रूप देने मे समर्थ होते है कि वे केवल अपने ही युग मे सीमित नहीं रह जाते। क्या कालिदास की आवाज आज भी हमारे लिए प्रेरणा नही दे सकती—वह रघुवश (६।७७) की आवाज—

आरूढमद्रति उदधीन वितीर्ण भुजंगमानां वसतिं प्रविष्टम्।
ऊर्ध्वगत यस्य न चातुबन्धि यश. परिच्छेत्तु मियत्तयालम् ॥

आज भी कालिदास यह कहते सुनाई देते है कि पर्वतो और

सागरों को लांघता हुआ भारत का यश फैल गया, पाताल और आकाश मे भी भारत का यश छा गया। और जैसे यह बात वह विशेष जोर देकर कह रहे हो कि भारत के यश की कोई सीमा नही, क्योकि यह सुकर्मों के साथ फैलने वाला है।

मेरे मित्र ने कहा, 'कालिदास की भाति आज का साहित्यकार भी अपनी जिम्मेदारी का ध्यान रखे तो वह न केवल अपने देश और राष्ट्र के लिए गर्व की वस्तु हो सकता है, बल्कि उसकी प्रेरणा का यश भी युग-युग की सीमाओं को लांघता हुआ चिरजीवी साहित्य की रचना मे समर्थ हो सकेगा।'

मैने कहा, 'यह तो तभी हो सकता है जबकि एक-एक साहित्यकार एक-एक भगीरथ बन जाय। गगा अवतरण के लिए भगीरथ ने जो प्रयत्न किया था उसकी गाथा हमारे राष्टीय जागरण की प्रतीक भी हो सकती है।'

इस पर चर्चा का रुख ऐसे कवियों की ओर मुड़ गया जो अपने को राष्ट्रीयता के पुजारी समझते है। हमारा इस बात पर एकमत था कि यद्यपि इन कवियो की बहुत-सी रचनाए तो भरती की चीज ही होती है, फिर भी हमे इनका महत्व स्वीकार करना होगा। इनमे भी प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी के लोग है, जैसा कि दूसरे क्षेत्रों मे हम देखते है। हमारा इस पर भी एकमत था कि खूबी इसी मे नहीं कि कवि क्या कहता है, बल्कि खूबी इसमे है कि कवि कैसे कहता है, अर्थात् कहते समय वह कितना छोड़ता है और कितना कहता है, क्योंकि बहुत-सी राष्ट्रीय कविताए तो इसीलिए व्यर्थ नजर आने लगती हैं कि उनमे भावना की अति दिखा दी जाती है, जैसे सब कुछ बस एक ही कविता मे कह डालना हो। इससे बहुत-सी तथा-कथित राष्ट्रीय कविताएं बेकार हो जाती है। जो न कह कर भी कहा जा सके, जब तक साहित्यकार की इस सत्य तक पहुँच नहीं होती, वह

युग की सीमाओं मे बन्ध कर कोई ऐसी बात नहीं कह सकता जो युग-युग तक जीवित रह सके । ऐसी बहुत-सी तथाकथित राष्ट्रीय कविताएं समाचार पत्रों मे हर रोज छपा करती हैं जिनका मूल्य उसी रोज खत्म हो जाता है, अगले ही दिन वे बेचारी पुरानी पड़ जाती हैं, फीकी लगने लगती है । सच पूछो तो इस प्रकार की सस्ती कविताएं एक दलदल का रूप धारण कर लेती हैं। बस कवि इस दलदल मे फसा कि वह वहीं का हो रहा। फिर वह लाख छटपटाये, इस दलदल से वह कैसे निकल सकता है ?

मैंने हस कर कहा, 'आप को एक प्रेमचन्द के स्मारक की चिन्ता है। मुझे यह भय है कि कल को यदि कोई इन तथा-कथित राष्ट्रीय कवियों के स्मारको की बात ले बैठा तो मामला गडबडा जायगा। मान लो कि इन लोगों के भी स्मारक बनने लगे तो पैर धरने की भी जगह नही रह जायगी।'

'पर शुक्र है ! इन कवियो की गिनती इतनी अधिक तो नहीं', यह कह कर वह हस पड़े।

अभी उस रोज एक दूसरे मित्र बोले, 'अब जब भारत स्वतन्त्र हो चुका है तो मेरे विचार में राष्ट्रीय कवियों और साहित्यकारों को आगे आना चाहिए। पर मामला उल्टा है। वे पीछे हट रहे है।'

मैंने कहा, 'जब तक स्वतन्त्रता नहीं आई थी, स्वतन्त्रता का स्वप्न हमारे इन राष्ट्रीय कवियों को प्रिय लगता था। अब जब स्वतन्त्रता आ गई तो उन्होंने एक आध कविता लिख कर इसका स्वागत कर लिया। अब इससे अधिक आप उनसे क्या चाहते है ?'

वह बोले, 'आज तो उनकी जिम्मेदारी और भी बढ़ गई है। उन्हे यह अवश्य समझना चाहिए।"

मैंने कहा, 'इन भले लोगों मे बहुत से कवि तो केवल फैशन के राष्ट्रीय कवि थे । उन्हे राष्ट्रीयता की कथा एक परी की कथा प्रतीत होती थी। अब जब स्वतन्त्रता आ गई तो शायद हमारे उन कवियों के लिए राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता का तिल्लस्म टूट गया। अब वे क्या लिखे ?'

वह फिर बोले, 'मै केवल कवियो की बात ही नहीं करता। समूचे साहित्यकार वर्ग को लीजिए। आज लेखक का क्या धर्म है, उसकी क्या जिम्मेदारी है, यह वह भूल गया।'

'तो क्या आप समझते है कि आज लेखक अपने मार्ग से पीछे हट रहा है ?'—मैंने पूछ लिया।

'कुछ हद तक यही कहना होगा,' वह बोले, 'हमारे नेता तो आज सरकार का काम चला रहे है, उन्हे तो आज पहले की तरह जनता के सम्मुख आकर बोलने की फुरसत नहीं। जनता हैरान है।'

'हैरान भी और परेशान भी,' मैंने हस कर कहा।

'हॉ, हॉ,' वह बोले, 'मै समझता हूॅ कि आज हमे अपने लेखको की सब से अधिक आवश्यकता है। आज जनता पथ-प्रदर्शन चाहती है। पर मैं हैरान हूॅ कि लेखक आगे क्यों नहीं आ रहे। वे पीछे क्यो हट रहे है ?'

मैने चुटकी लेते हुए कहा, 'शायद हमारे लेखक नाराज हो गये है कि उन्हे क्यो सरकार ने अभी तक याद नहीं किया।'

'मै आपका मतलब नही समझा,' वह कह उठे, 'अभी हमारे देश को स्वतन्त्रता मिले एक वर्ष हुआ है, फुरसत मिलने पर सरकार अवश्य लेखको की ओर ध्यान देगी।'

'आपका मतलब है कि लेखकों की भी कभी उतनी ही कद्र हो सकेगी जितनी कि राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओं की हुई है ?'—मैंने फिर चुटकी ली।

'नही, मेरा मतलब यह तो नही कि सरकार लेखकों को भी सरकारी नौकरिया देगी,' वह बोले, 'और हमारे लेखको को नौकरियों की उतनी परवाह होनी भी नही चाहिए। उन्हे तो यह समझ लेना चाहिए कि सरकार हमारी है और हम सरकार के है।'

'पर, भाई साहब,' मैने कहा, 'लेखक बेचारा भी क्या करे? वह भी इस दुनिया मे रहता है। महगाई का यह हाल है कि लेखक बेचारे की गुजर भी नही हो सकती। स्वतन्त्रता तो आई, पर लेखक की कठिनाइयां वैसी की वैसी बनी रही। उसका आर्थिक मूल्य जरा भी तो नही बढ़ा। उसे घर-घर पत्नी की फटकार सुननी पड़ती है। ऐसे मे वह क्या लिखे?'

वह बोले, 'यह आप क्या कह रहे है? सच्चे कवि और साहित्यकार को तो कभी घबराना नही चाहिये।'

'पर सत्य यही है, मित्रवर,' मैने कहा, 'कि लेखक भी आदमी है। कविताओं से घिरा हुआ आदमी। वह भी घबरा जाता है।'

'मै तो समझता हूं,' वह फिर बोले, 'कि सच्चा साहित्यकार वही है जो जीवन के एक-एक आघात को हंसकर सह ले। उसे यह तो कभी सोचना ही नही चाहिए कि उसे एक कविता या लेख पर इतने रुपये मिलेगे और ये कम है। जब लेखक के दिल मे चांदी के रुपये ने स्थान पा लिया तो समझिए कि वह चांदी के रुपये का गुलाम हो गया। फिर चांदी का रुपया ही तो उससे लिखवायेगा, वह लिखेगा। और सच पूछो तो ऐसा लेखक जनता का उद्धार नहीं कर सकता।'

मैने कहा, 'भाई साहब, क्षमा कीजिए। यहां मैं आप से सहमत नही हो सकता। आप चाहे तो मुझे चादी के रुपये का गुलाम समझ सकते हैं।'

वह बोले, 'हम स्वतन्त्रता की वर्षगांठ मनाने जा रहे है यह बात आप के मुख से शोभा नही देती। मुझे ही लो। मै नौकरी करता हूँ। पर मैने अभी तक वह कुरता और धोती, जो मै इस नौकरी मे आने से पहले पहनता था, संभाल कर ट्रंक मे रख छोडी है। जब भी दफ्तर मे कोई ऐसी वैसी बात हो जाती है, सच मानो वह ट्रंक मे बन्द कुरता और धोती यह कहते सुनाई देते है—'हम जो है, तुम्हे फिर चिन्ता काहे की ? आप मेरा मतलब समझ ही गए होगे।'

मैने कहा, 'आप यही कहना चाहते है न' कि आप सदैव इस बात के लिए तैयार रहते है कि यह नौकरी छोड़ कर फिर से वही कुरता और धोती पहन ले और फिर से स्वतत्र लेखक के रूप मे मैदान मे आ कूदे।'

उस समय मुझे अपने इस मित्र के साहस की दाद देनी चाहिये थी। पर साथ ही मुझे जीवन की कठिन समस्याओ का ध्यान आ गया और मै यह सोच कर रह गया कि जहां हम लेखक से यह आशा रखते है कि उसे सदैव अपनी जिम्मेदारी का ध्यान रहे, वहा हमे इस बात की भी चिन्ता रहनी चाहिए कि वह बदलते हुए युग के बदलते हुए मूल्यो मे खडा रह सकता है या नही। यदि स्वतंत्र भारत यह चाहता है कि लेखक अपनी रचनाओ द्वारा जनता के मानसिक भोजन का प्रबध करे तो स्वतंत्र भारत की नौका के खेने वालों को भी अपनी जिम्मेदारी का अनुभव अवश्य होना चाहिए। अब प्रश्न रह जाता है कि लेखक की जिम्मेदारी है क्या ? उसका उत्तर सहज है। लेखक को यह फैसला करना है कि वह जन-शक्ति को एक ऐसे नये समाज के निर्माण की ओर ले जाय जिसमे सब सुखी हों, सब बराबर हों।

✓यात्रा का अन्त

गांधी जी की हत्या का विषादपूर्ण समाचार सुनकर एक दस वर्षीय अमेरिकन बालक कह उठा, 'काश, किसी ने रिवाल्वर बनाने की कला न सीखी होती !'

राह चलता एक अमेरिकन किसान पास से जाती हुई एक महिला को रोक कर बोला, 'हर कोई तो संसार भर मे यही समझता था कि गांधी अच्छा आदमी है। उन्होने उसे क्यो मार डाला !'

इन दोनों का उल्लेख अमेरिका की सुप्रसिद्ध लेखिका पर्ल-बक ने गांधीजी की हत्या पर अपने हृदयस्पर्शी वक्तव्य मे किया है। यह बालक उसका अपना पुत्र था जिसने अपनी माता ही की भांति आज तक गाधीजी के दर्शन नहीं किये थे, केवल उनकी चर्चा ही सुनी थी। मै भारत की राजधानी के इस छोटे से मकान के एक कोने मे बैठा हूँ। मुझ मे इतनी सामर्थ्य अवश्य है कि अपनी कल्पना की सहायता से सुदूर अमेरिका के एक परिवार मे इस बालक का चेहरा देख सकूं, उसकी माता ने निश्चय ही अपने पुत्र की सूझ-बूझ की दाद देते समय उसका

मुंह चूम लिया होगा, यद्यपि पर्लबक के वक्तव्य मे इस बात का उल्लेख नहीं किया गया। यह किसान भी, जिसने पर्लबक को एकआध क्षण के लिए रोक कर उसके सन्मुख एक महत्व-पूर्ण प्रश्न उपस्थित किया, उसी मानवता का प्रतीक है जिसकी एक इकाई हमें एक बालक मे दिखाई दे रही है।

स्थान और समय की सीमाए लांघ कर मानव से मानव मिलने के लिए तड़प रहा है, या यह कहिए, जैसाकि मैंने कही पढ़ा था, यह संसार एक असीम ससार है जिसमे प्रत्येक मानव एक द्वीप की भांति स्थित है, और सदैव नहीं तो कभी-कभी ये द्वीप एक दूसरे के स्पर्श के लिए अवश्य उत्सुक हो उठते है। वह बालक अवश्य गांधीजी के अन्तिम दर्शन के लिए तड़प उठा होगा, वह किसान भी। और कौन जाने कितने देशों मे कितने बालक और कितने किसान गांधीजी की हत्या की खबर सुनकर इसी प्रकार एक पीडा-सी अनुभव करके रह न गये होंगे ? उस किसान को सांत्वना देते हुए पर्लबक ने कहा, मैं तो समझती हूँ उन्होंने उसे वैसे ही मार डाला जैसे उन्होने ईसा को मार डाला था।'

प्रत्येक देश मे गांधीजी की इतनी साख थी कि उनकी मृत्यु पर किसी को आसानी से विश्वास ही नहीं हुआ होगा। वह हमारे बीच से इतनी जल्दी कैसे उठ गये जब कि हमे उनकी सबसे अधिक आवश्यकता थी, यह बात बहुतों ने सोची होगो।

एक तांगे वाला कह रहा है,'गांधीजी तो कोई ऋषि थे। वह कह चुके थे कि देश को स्वराज्य दिलाये बिना मैं मरूंगा नहीं वराज्य की तिथि बदलवा कर उन्होंने पहले ही देश को स्वराज्य दलवा दिया। उन्हे पता था कि वह अब अधिक देर नही जीयेगे।'

मैं इस तांगे वाले की ओर बडे ध्यान से देखता हूँ। उसकी आंखे मेरी ही भाति आंसुओं से भीग गई है। मैं उससे पूछता हूँ कि क्यों वह उस तांगे वाले का भाई तो नहीं जिसने

कहा था,'जब कभी शाम के समय कोई मुझे बिरला हाउस जाने को कहता है तो मैं भाडा ठहराये बिना चल पडता हूं,क्योंकि इस बहाने मुझे गांधीजी की प्रार्थना-सभा का रस मिल जाता है।'

जब कभी गांधीजी मृत्यु की बात छेड़ देते तो यों लगता कि वह व्यंग्य मे यह बात कह रहे हैं। कलकत्ता के कत्लेआम से उनकी आत्मा पर गहरा घाव लगा, यह बात उनके निकटवर्ती खूब जानते थे। वह हृदय से यही चाहते थे कि यह कत्लेआम फिर न दोहराया जाय। शांति गंवाकर स्वतन्त्रता पाने की बात वह कभी सोच ही नही सकते थे। परन्तु जब कलकत्ता की आग नोआखाली तक जा पहुँची और मानवता की पुकार गाधीजी के कानो तक पहुँची तो वृद्धावस्था मे वह नोआखाली के लम्बे रास्ते पर नंगे पैरो घूमने के लिए चल पडे। विश्व-शान्ति के एक बटोही का चित्र आज भी मेरी आंखों के सामने घूमने लगता है, उनके पीछे-पीछे चलने वाले यात्रियों में मैं अपनी गिनती भी करने लगता हूँ। सोचता हूँ मैं तो नोआखाली नहीं गया था। पर मै नोआखाली से एकदम अपरिचित भी तो नहीं हूँ। नोआखाली के पश्चात् बिहार में मार-काट शुरू हुई। घृणा का उत्तर घृणा नहीं नोआखाली का बदला बिहार मे नहीं लिया जा सकता— गांधीजी की यह वाणी देश के वातावरण में गूंज उठी। बिहार मे यह आग बुझ गई तो पजाब में भड़की, फिर बम्बई में, फिर कलकत्ता मे। और आज भी जब इस बात की कल्पना करता हूँ कि कलकत्ता में गांधीजी ने किस प्रकार जनता के भड़के हुए हृदयों को फिर से शांत किया तो मै उन्हें समय और स्थान की सीमाओं को लांघ कर मानवता की एकता के मन्त्रद्रष्टा की भांति युग-युग की परम्परा को अग्रसर करते अनुभव करता हूँ कलकत्ता से वह दिल्ली लौट आये और यहीं जम गये। उन्होंने यहीं अन्तिम उपवास रखकर प्राणों की बाजी लगाई। हमने

उनके सम्मुख बैठकर शपथ ली कि उनके इस सिद्धांत को कभी नहीं भूलेगे कि सब भाई-भाई है और समस्त देश एक है। वह प्रार्थना-सभा में सम्मिलित होने की बात सदैव याद रखते थे। एक-आध बार ऐसा भी हुआ कि वे बन्दियों की विनय स्वीकार करते हुए जेल के भीतर जाकर प्रार्थना-सभा का आयोजन करने के लिए तैयार हो गये। एक-दो बार किसी न किसी ग्राम मे प्रार्थना की गई। वही भजन, वही रामधुन। वही मानवता मे सनी हुई वाणी। इसी वाणी को सदैव के लिए चुप कराने को किसी ने बिरला हाउस की एक प्रार्थना-सभा पर बम फेका। गांधीजी साफ बच गये। कहते है उन्होंने गर्दन तक नहीं हिलाई थी। बम फेकनेवाला पकड़ा गया। अगली शाम की प्रार्थना-सभा में उन्होंने सरकार से विनय की कि अपराधी के साथ नरमी का बरताव किया जाय। सरकार ने बहुत कहा कि अब भविष्य मे प्रार्थना-सभा मे जानेवालों की तलाशी लेने का नियम लागू कर दिया जाय। पर गांधीजी ने इसकी स्वीकृति नहीं दी। और ३० जनवरी को संध्या समय जब वह प्रार्थना के लिए अपने कमरे से निकले, एक उन्मत्त हत्यारे हिन्दू युवक ने अपनी जेब से पिस्तौल निकालकर उन पर तीन गोलियां चलाईं। देखने वाले बताते हैं कि गांधीजी के हाथ मृत्यु का अभिनन्दन करने के लिए उठे और वह क्षणभर बाद ही धरती पर गिर गये। कुछ लोगों ने हिम्मत करके हत्यारे को पकड लिया। रेडियो पर तुरन्त दुखद समाचार प्रसारित कर दिया गया। रक्त से लथपथ शरीर उसी समय बिरला हाउस के भीतर उसी कमरे मे ले जाया गया जहां वह ठहरे हुए थे।

कमरे में हर कोई निराशा से बापू के शव की ओर निहार रहा था। पास बैठे एक सज्जन से पता चला कि वह बहुत दिनों से बापू के स्नेही है और इन्हीं दिनों उन्होंने एक पुस्तक लिखी

थी—प्रकाशस्तम्भ। इसमे तीन जीवन-कथाए दी गई है—गांधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और मालवीयजी। कुछ दिन पहले लेखक महोदय ने यह पुस्तक गांधीजी को भेट की तो वह हसकर कह उठे, 'तीनो मे मैं ही जीवित हूँ!' ठण्डी सास भरकर लेखक महोदय ने बापू की ओर देखा और कहा, 'आज बापू भी बाकी दोनो मे सम्मिलित हो गये!' इनके स्वर विषादपूर्ण हो उठे थे। हमारे हृदय विषाद से सने हुए है, और हम यह नहीं सोच सकते कि गांधीजी का वास्तविक स्मारक किस रूपरेखा पर निर्मित किया जाय। परन्तु इतना तो सत्य है कि गांधीजी अमर हो गये, और जो कार्य वह जीते जी नहीं कर सके, वह मृत्यु के पश्चात अब अवश्य पूर्ण होगा।

गुरुदेव के बंगला गान के शब्दों मे हम एक स्वर होकर गांधीजी को श्रद्धांजलि अर्पण कर सकते है, जिसका अर्थ यह है—मरण-सागर के उस पार तुम अमर हो गये हम तुम्हारा स्मरण करते हैं।

निखिल विश्व को तुम अपना ही घर बनाकर चले गये हो
हम तुम्हारा स्मरण करते हैं।
संसार में जो नवीन आलोक दीप तुम जला गये
उसकी जय हो, जय हो, जय हो,
हम तुम्हारा स्मरण करते हैं।
सत्य की वरमाला से वसुधा को तुम सुशोभित कर गये
हम तुम्हारा स्मरण करते हैं।
जो वाणी, सन्देश तुमने हमारे लिए छोड़ा है वह
भयहीन है, शोकहीन है।
जय हो, जय हो, उसकी जय हो।
हम तुम्हारा स्मरण करते हैं।

जनपद-संस्कृति

"यह जनपद क्या बला है, अग्रवालजी ?" मैंने हैरान होकर पूछ लिया था, क्योंकि मेरे लिये यह शब्द एक दम नया था—कोरे घड़े की तरह नया। यह बात सन् १६३७ की है, जब मैं ब्रज के लोकगीत सग्रह कर रहा था।

अग्रवालजी ने तनिक चकित होने की बजाय पुरानी गाथा छेड़ दी और बताया कि महाभारत, भीष्म-पर्व अध्याय ६, और मार्कण्डेय पुराण तथा अन्य पुराणों में जनपदों की अनेक सूचियां मिलती हैं। मैं अभी जनपद शब्द की ध्वनि और आधुनिक भाषा में इस शब्द के प्रयोग पर ही विचार कर रहा था। इस बीच मे अग्रवालजी के मुख से इतनी बार यह शब्द सुनने को मिला कि बहुत शीघ्र यों प्रतीत होने लगा कि यह तो कोई वर्षों का बिछड़ा साथी है जो फिर से आन मिला है और अब तो हर किसी से यही कहना होगा—अरे भाई इस जनपद शब्द से बिदकने की आवश्यकता नही, यह तो अपनी ही मातृभूमि की उपज है, जैसे यह कोई धरती का लाल हो और धरती की सुगन्ध इसकी श्वास में रम गई हो।

देश के मानचित्र की ओर संकेत करते हुए अग्रवालजी बार-बार देश की भाषाओं तथा बोलियों की चर्चा छेड़ देते, और बीच-बीच में जनपद शब्द नगीने की भांति जड़ दिया जाता जिससे इसकी आभा स्वत मेरा ध्यान आकर्षित कर लेती। एक दिन अग्रवालजी बोले.—

"मौलिक अधिकार" सम्बन्धी प्रस्ताव जिसे अखिल-भारतीय काग्रेस कमेटी ने बम्बई मे अगस्त १६२८ मे स्वीकार किया था, स्पष्ट शब्दों मे कहता है, 'अल्प संख्यक जातियों और विभिन्न भाषा-क्षेत्रों की संस्कृति, भाषा और लिपि की सुरक्षा का प्रबन्ध किया जायगा।'

मैंने कहा, 'यह तो नितान्त आवश्यक है।'

अग्रवालजी की मुखाकृति उस समय कुछ ऐसी थी जैसे वे कह रहे हो कि देश के जनपद हमें पुकार रहे हैं क्योंकि अब तक तो हम एक-एक जनपद की संस्कृति की आवाज़ को सुना अनसुना करते आये हैं। उस समय वे कदाचित् पुरातन जनपदों को देश के मानचित्र पर पृथक-पृथक और कुछ-कुछ उभरे हुए देखने के लिए लालायित हो उठे थे।

सन् १६३७ की बात आज बहुत पुरानी हो गई। मुझे याद है मैंने अग्रवालजी के सम्मुख हॅसते-हॅसते एक दिन अंगरेज़ी साहित्य के एक लोकप्रिय चुटकले की ओर संकेत करते हुए कहा था, 'वही बात हुई कि कोई किसी से पूछ बैठे कि गद्य किसे कहते हैं और उत्तर मे यह सुन कर कि यह जो तुम बोल रहे हो यह गद्य ही तो है', झट यह कह उठे, 'तो अब तक मैं गद्य की रचना करता रहा हूॅ। मुझे ही लो। कितने वर्षों से मैं अनेक जनपदों की खाक छानता रहा। किन्तु मुझे यह ज्ञात न था कि इन प्रदेशों को जनपद कहते हैं।'

उन दिनों मथुरा मे श्रीसत्येन्द्र से भी भेंट हुई। मैंने

श्रीसत्येन्द्र और अग्रवालजी की देख-रेख मे ब्रज के अनेक लोक-गीत प्राप्त किये। श्रीसत्येन्द्र को मैंने अपने समीप अनुभव किया। किन्तु अग्रवालजी का प्रकाण्ड ज्ञान और अनुभव एक विशाल पर्वत की भाँति सिर उठाये खड़ा दृष्टिगोचर होता। एक ओर उनका पुरातन संस्कृत-साहित्य का अध्ययन और दूसरी ओर पुरातत्व शास्त्र मे उनका जीवित अधिकार। मैं उनकी बातें बड़े ध्यान से सुनता और अजायबघर के भीतर पड़ी हुई मूर्तियों इत्यादि से परिचय बढ़ाते समय अपने इस मित्र की ओर आँखें उठाते समय शत-शत अनुग्रह जताये बिना न रह सकता। फिर भी कभी-कभी यह भय प्रतीत होता कि कहीं मैं ग्रन्थों और मूर्तियों के बीचोबीच एक प्रकार से समोसा न बन जाऊँ उस समय मैं या तो किसी ग्राम की ओर निकल जाता या श्रीसत्येन्द्र के सिरहाने जम कर बैठ जाता ताकि वे कठिन शब्दों का अर्थ बता सकें और अनेक मर्मस्पर्शी स्थलों का महत्त्व और सौन्दर्य समझने मे सहायक हो सके।

जब कभी अग्रवालजी लोक गीतों की प्रशंसा मे कुछ कहते सुनाई देते मुझे यों लगता कि यह विशाल पर्वत किसी महान् पुरातन की भाँति झुक कर नई पीढी के व्यक्ति को स्पर्श करने का यत्न करते हुए आशीर्वाद दे रहा है। लोकवर्ता के वैज्ञानिक अध्ययन की बात वस्तुतः श्रीसत्येन्द्र ने उठाई थी, और मुझे याद है कि शुरू-शुरू मे यह बात सुन कर यह सन्देह होने लगा था कि श्रीसत्येन्द्र भी अब मुझ से दूर होने की बात सोच रहे हैं। 'यह वैज्ञानिक अध्ययन क्या बला है ?'—मैं उसस मय ठीक नहीं समझ सका था। फ्रेजर की 'गोल्डन बाउ' का उल्लेख करते हुए, मुझे याद आया, एक बार इससे पूर्व श्री स० ह० वात्स्यायन ने भी लोक गीत की सामाजिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि की ओर विशेष ध्यान देने की बात कही थी।

अग्रवालजी का 'पृथ्वी पुत्र' शीर्षक लेख, जो कदाचित् १६४१ मे प्रकाशित हुआ था, जनपद-सस्कृति के गौरव-गान का महान परिचायक सिद्ध हुआ । इसके पश्चात् अग्रवालजी ने 'पचवर्षीय जनपद कल्याणी योजना' उपस्थित की जिसकी रूप रेखा पर ध्यान देना और इस योजना को कार्य-रूप में परिणत करना नितान्त आवश्यक प्रतीत होता है—

वर्ष १. साहित्य, कविता, लोक-गीत, कहानी आदि जनपदीय साहित्य के विविध अंगों की खोज और सग्रह । वैज्ञानिक पद्धति से उनका प्रकाशन और सम्पादन ।

वर्ष २. भाषा-विज्ञान की दृष्टि से जनपदीय भाषा का सांगोपांग अध्ययन अर्थात् उच्चारण और ध्वनि-विज्ञान, शब्द-कोष, प्रत्यय, धातुपाठ, मुहावरे, कहावत और नाना प्रकार के पारिभाषिक शब्दो का संग्रह और आवश्यकतानुसार सचित्र सम्पादन ।

वर्ष ३. स्थानीय भूगोल, स्थानों के नाम की व्युत्पत्ति और उनका इतिहास स्थानीय पुरातत्व और शिल्प का अध्ययन ।

वर्ष ४. पृथ्वी के भौतिक रूप का समग्र परिचय प्राप्त करना—अर्थात् वृक्ष, वनस्पति, मिट्टी, पत्थर, खनिज, पशु-पक्षी, धान्य, कृषि, उद्योग-धन्धो का अध्ययन ।

वर्ष ५ जनपद के निवासी-जनो का सम्पूर्ण परिचय—अर्थात मनुष्यों की जातियां, लोक का रहन-सहन, कर्म-विश्वास और रीति-रिवाज, नृत्य-गीत और आमोद-प्रमोद, पर्व-उत्सव-मेले, खान-पान, स्वभाव के गुण-दोष, चरित्र की विशेषताएं, इन सबकी बारीक छान-बीन और पूरी जानकारी प्राप्त करके ग्रन्थ रूप मे प्रस्तुत करना ।

यह पंचविधि योजना वर्षानुक्रम से पूरी की जा सकती है, अथवा एक साथ ही क्षेत्र में कार्यकर्ताओं की इच्छानुसार

प्रारम्भ की जा सकती है। किन्तु यह आवश्यक है कि वार्षिक कार्य का विवरण प्रकाशित होता रहे। प्रत्येक जनपद अपने क्षेत्र के साधनों को एकत्र करके 'मधुकर', 'ब्रजभारती' और 'बान्धव' के ढंग के पत्र प्रकाशित करे तो और अच्छा है। स्थानीय कार्यकर्ताओं की सूची तैयार करनी चाहिए और कार्य के सम्पादन के लिये विविध समितियो का सगठन करना चाहिए। उदाहरणार्थ कुछ समितियो के नाम ये हैं'--

१. भाषा समिति--जनपदीय भाषा का अध्ययन, वैज्ञानिक खोज और कोष का निर्माण। धातु पाठ और पारिभाषिक शब्दों का सग्रह इसी के अन्तर्गत होगा।

२. भूगोल या देश दर्शन समिति—भूमि का आंखो देखा भौगोलिक वर्णन तैयार करना।

३ पशु-पक्षी समिति--अपने प्रवेश के सत्वों की पूरी जांच-पड़ताल करना इस समिति का कार्य होना चाहिए। इस विषय मे लोगो की जानकारी से लाभ उठाना, नामों की सूचियां तैयार करना, अगरेजी मे प्रकाशित पुस्तको से नामों का मेल मिलाना आदि विषयों को अध्ययन के अन्तर्गत लाना चाहिए।

४. वृक्ष-वनस्पति समिति--पेड़, पौधे, जड़ी, बूटी, फूल-फल, मूल, सबका विस्तृत सग्रह तैयार करना।

५ ग्राम-गीत-समिति—लोकगीत, कथा-कहानी आदि के संग्रह का कार्य।

६ जन-विज्ञान समिति—विभिन्न जातियों और वर्णों मे लोगों के आचार-विचार और रीति-रिवाजो का अध्ययन।

७. इतिहास पुरातत्त्व समिति--प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व की सामग्री की छान-बीन, उसका अध्ययन, संग्रह और प्रकाशन। पुरातत्त्व सम्बन्धी खुदाई का भी प्रबन्ध करना।

८. कृषि-उद्योग समिति—जनता के कृषि-विज्ञान, उद्योग

धन्धों और खनिज पदार्थों का अध्ययन।

इस प्रकार साहित्यिक दृष्टिकोण को प्रधानता देते हुए, अपने लोक का रुचि के साथ एक सर्वांगपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करना इस योजना का उद्देश्य है।'

अग्रवालजी की इस पचवर्षीय जनपद कल्याणी योजना' से प्रभावित होकर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने हरिद्वार अधि-वेशन (१६४२) मे एक प्रस्ताव स्वीकार किया—

'इस सम्मेलन का यह विश्वास है कि भारतीय सस्कृति का निवास हमारे जनपदो मे है। अत यह सम्मेलन एक समिति की स्थापना करता है जो भारत के विभिन्न जनपदो की भाषा, पशु-पक्षी, वनस्पति, ग्राम-गीत, जन-विज्ञान, संस्कृति, साहित्य तथा वहा की उपज का अध्ययन कराने की योजना उपस्थित करे। उस समिति मे ।निम्नलिखित विद्वान हों—सर्व श्रीवासु-देवशरण अग्रवाल, अमरनाथ झा, जैनेन्द्रकुमार, सत्येन्द्र और चन्द्रबलि पाण्डेय (सयोजक)।'

यहां यह बता देना उचित प्रतीत होता है कि अग्रवालजी सम्मेलन के अधिवेशन पर उपस्थित नहीं थे, और मुझे उनकी अनुपस्थिति बुरी तरह अखर रही थी। मुझे याद है इस प्रस्ताव पर सम्मेलन मे काफी वाद-विवाद हुआ था, और यदि अधि-वेशन के प्रधान श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी ने सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि-कोण से न अपनाया होता तो यह प्रस्ताव कदापि स्वीकृत न हो पाता।

बाद में जनपद-समिति मे कदाचित् मेरा नाम भी जोड़ लिया गया था, और जब समिति के संयोजक श्रीचन्द्रबलि पाण्डेय के पत्र आने लगे तो मैंने इस कार्य में पूर्ण सहयोग देने का निश्चय कर लिया था। इस सम्बन्ध में अग्रवालजी ने भी मुझे भरसक प्रोत्साहन दिया और लिखा कि अब बहुत प्रतीक्षा के

बाद कार्य का अवसर आया है।

इसी बीच मे श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी ने 'विकेन्द्रीकरण' का आंदोलन आरम्भ कर दिया। उधर सितम्बर १६४३ के 'हंस' मे 'मातृभाषाओं का प्रश्न' शीर्षक लेख लिख कर श्रीराहुल सांकृत्यायन ने इस आंदोलन को स्वस्थ जनवादी आधार प्रदान किया। इससे एक वर्ष पूर्व 'हस' में प्रकाशित 'पाकिस्तान और जातियों का मवाल' मे राहुलजी ने लिखा था कि पाकिस्तान वस्तुत अलग-अलग सस्कृतियों और भाषाओं का राष्ट्र-सघ होगा जिसमे सिन्धी, बिलोची, पंजाबी और पश्तो आदि भाषाये जीवित रहेगी, और इसी प्रकार हिन्दुस्तान भी एक बहुजातिक राष्ट्र होगा। राहुलजी ने जनवादी दृष्टिकोण से यह बात जोर देकर लिखी थी कि हिन्दुस्तान मे अधिक नहीं तो ७३ भाषाए और ७३ जातियां होती हैं। राहुलजी ने यह भी कहा था कि दोनों जाति-सघ जनतन्त्रवादी होने चाहिये। और जनता को साक्षर बनाने के प्रश्न पर उन्हे विशेष ध्यान देना होगा, क्योंकि जैसा कि उनका विचार था, थोथी भावुकता और काल्पनिक अखंडता के नाम पर एक विजातीय भाषा लादने से कुछ बात नहीं बनेगी, क्योंकि जनता को नया ज्ञान देते समय जनता की अपनी भाषा ही ठीक माध्यम बन सकती है और एक नई भाषा उस पर लादने से शीघ्रातिशीघ्र नया ताव देने की समस्या हल नहीं होगी। राहुलजी ने मातृभाषा मे शिक्षा के भविष्य की व्यवस्था निश्चित करते समय यह बात भी स्पष्ट कर दी थी कि अन्तर्प्रांतीय भाषा का स्थान सुरक्षित रहेगा, अर्थात् पाकिस्तान राष्ट्र में उर्दू अन्तर्प्रान्तीय भाषा बनेगी तो हिन्दुस्तान मे हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) को ही यह स्थान मिलेगा। 'मातृ भाषाओं का प्रश्न' शीर्षक लेख मे भी यह बात खुले शब्दों में कही थी, 'आज के युग मे एक सम्मिलित भाषा की उपयोगिता को न समझना

वस्तुत. बड़े आश्चर्य की बात होगी। इसलिए हिन्दी के सम्मिलित साझे की भाषा होने से हम इन्कार नहीं करते। रोज के आपसी वार्तालाप की तरह साहित्यक आदान-प्रदान के साधन के तौर पर भारत में हिन्दी का एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है और रहेगा, इसे भी हमे मानना पडेगा।'

हा, राहुलजी ने यह बात जोर देकर कही थी कि विभिन्न भाषा-प्रदेशो मे मातृभाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाना पड़ेगा। क्योंकि मातृभाषा सीखने मे विलम्ब नही होता। राहुलजी ने रूस का उदाहरण देते हुए लिखा था कि एशिया के तुर्कमान, उजबेक, किगिज और कजाक जातियों मे शिक्षा की अभूतपूर्व प्रगति हुई है क्योंकि वहां सोवियत शासन ने मातृभाषाओ को शिक्षा का माध्यम बनाया है जब कि लाल क्रान्ति के पूर्व न इन भाषाओ की कोई लिपि ही थी और न कोई लिखित साहित्य ही। 'मातृभाषाओ के जनपदो की सूची' जो राहुलजी ने अपने लेख मे उपस्थित की थी, इस प्रकार है.—

भाषा	जनप	राजधानी
हिन्दवी	पश्चिमी पंजाब	रावलपिण्डी
मध्य-पंजाबी	मध्य पजाब	लाहौर
पूर्वी-पजाबी	पूर्वी पजाब	लुधियाना
सिन्धी	सिन्ध	कराची
मुल्तानी	मुल्तान	मुलतान
काश्मीरी	काश्मीर	श्रीनगर
प० पहाड़ी	त्रिगर्त	कांगड़ा
हरियानी	हरियाना	दिल्ली
मारवाड़ी	मारवाड़	जोधपुर
वैराटी	विराट	जयपुर
मेवाड़ी	मेवाड़	उदयपुर

मालवी	मालवा	उज्जैन
बन्देली	बुन्देलखण्ड	झांसी
ब्रज	सूरसेन	आगरा
कौरवी	कुरू	मेरठ
पचाली	रुहेलखण्ड	बरेली
गढ़वाली	गढ़वाल	श्रीनगर
कूर्मांचली	कूर्मांचल	अल्मोडा
कौसली	कौसल (अवध)	लखनऊ
वात्सी	वत्स	प्रयाग
चैदिका	चेदि	जबलपुर
बघेली	बघेलखण्ड	रीवा
छत्तीसी	छत्तीसगढ	विलासपुर
काशिका	काशी	बनारस
मल्लिका	मल्ल	छपरा
बज्जिका	वज्जी	मुजफ्फरपुर
मैथिली	विदेह (तिहु्त)	दरभंगा
अंगिका	अंग	भागलपुर
मागधी	मगध	पटना
संथाली	सथाल परगना	जसीडीह

राहुलजी द्वारा उपस्थित की हुई इस सूची पर वैज्ञानिक तथा राष्ट्रीय-दृष्टि से विचार नही किया गया। वह सूची उपस्थित करते समय राहुलजी ने समग्र देश को सामने नहीं रखा। पाकिस्तान बनने से पूर्व का उत्तर भारत ही उनके सम्मुख रहा है। 'हिन्दी' 'मध्य पंजाबी' और पूर्वीय पजाबी—पंजाबी के यह तीन विभाग अलग-अलग होते हुए भी आधुनिक विकसित पंजाबी भाषाओं मे समा गये हैं, और इन्हे अलग-अलग रूप मे विकसित होते देखने की भावना राष्ट्रीय-दृष्टि से उतनी ही

अस्वस्थ होगी जितनी कि बंगला भाषा के आधुनिक विकास की ओर दृष्टि न देकर फिर से पूर्वीय बंगला और पश्चिमी बंगला का अलग-अलग विकास देखने की भावना। इसी प्रकार जैसा राजस्थानी भाषा के आधुनिक आन्दोलन को सम्मुख रखते हुए कहा जा सकता है, मारवाड़ी, वैराटी, मेवाड़ी इत्यादि का अलग-अलग विकास होना सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अधिक से अधिक यही सम्भावना दीखती है कि ये तीनों भाषाये परस्पर मिल कर एक प्रकार की सम्मिलित राजस्थानी भाषा को विकास के मार्ग पर अग्रसर कर सके। इस के अतिरिक्त वत्स, चेदि बज्जी तथा अग इत्यादि जनपदो के पुरातन नाम कहां तक अशिक्षित जनता के लिए प्रेरणा और रचनात्मक स्फूर्ति के साधन बन सकेंगे, इस के सम्बन्ध में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता।

एक बात तो प्रत्यक्ष है कि चतुर्वेदीजी के विकेन्द्रीकरण आन्दोलन और राहुलजी की जनपद सूची से हिन्दी-सम्मेलन की गति विधि का कोई तारतम्य न जुड़ सका और अनेक आशंकाए उठ खडी हुई। न जनपद कल्याणी योजना ही चल पाई, और न जनपद-सम्बन्धी प्रस्ताव द्वारा बनाई गई समिति ही कुछ कर सकी।

सम्मेलन के भूतपूर्व प्रधान पण्डित श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी ने एक प्रेस इन्टरव्यू में कहा, 'बहुत सम्भव है कि जयपुर सम्मेलन इस प्रस्ताव को रद्द कर दे।'

एक और अवसर पर माखनलालजी ने विशेष रूप से हिन्दी प्रान्तों की ओर सकेत करते हुए कहा था, 'इस प्रकार विभागीय संघर्ष उत्पन्न हो जायेगे......मैं यह हर्गिज नहीं समझ सकता कि इन प्रान्तों की पाठ्य पुस्तकें वहां की बोलियों मे छपने लगे। प्रान्तीय अभिमान को जाग्रत करना बुरी बात नहीं, परन्तु

इनके गृह-कलह से मुझे सम्पूर्ण हिन्दी जगत के नाश हो जाने का भय प्रतीत होता है।'

यही मनोवृत्ति आगे चल कर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के जयपुर अधिवेशन मे स्वीकृत प्रस्ताव मे प्रकट हुई, 'प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों को पृथक-पृथक सभ्यता और सस्कृति का परिचायक बता कर जो सकुचित आन्दोलन कई प्रदेशों मे किये जा रहे है, उनको यह सम्मेलन अवांछनीय समझता है। सम्मेलन की सम्मति है कि भारत की एक ही संस्कृति है और एक ही भाषा तथा सस्कृति से प्रभावित भाषाये तथा बोलियां देश में प्रचलित है। इस सम्बन्ध को दृढ़ करने के लिए ऐसे प्रांतीय शब्द कोषों की आवश्यकता है जिनमे प्रचलित और उपयुक्त तद्भव तथा तत्सम शब्दों एवं व्युत्पत्ति के आधार पर आन्तरिक एकता स्पष्ट हो जाय। यह सम्मेलन प्रान्तीय सम्मेलनों से अनुरोध करता है कि वे अपनी-अपनी प्रादेशिक भाषा में इस कार्य को पूर्ण करने का प्रयास करे।'

इस प्रकार एक आवश्यक योजना को जान बूझ कर संकुचित कर दिया गया। जनपद संस्कृति की बात पर पानी फिर गया। गत वर्ष कराची मे सम्मेलन का अधिवेशन हुआ, किन्तु किसी को भूल कर भी यह ध्यान न आया कि जनपद योजना पर फिर से विचार किया जाय, और इस आवश्यक कार्यक्रम से राष्ट्र के जीवन मे एक गति का संचार किया जाय।

काशी मे अखिल भारतीय पी० ई० एन० सम्मेलन के सम्मुख '१९४५ से १९४७ तक' शीर्षक लेख पढ़ते हुए श्री स० हि० वात्स्यायन ने जनपद सस्कृति के सम्बन्ध मे स्पष्ट शब्दों मे कहा था, 'सबसे अधिक महत्वपूर्ण है हिन्दी के प्रदेश कहलाने वाले खण्ड में प्रादेशिक अथवा जनपदीय संस्कृतियों की जाग्रति। इस नई चेतना को ठीक परिपार्श्व मे देखना और समझना

आवश्यक है। यह जाग्रति विभेद करने अथवा दल बनाने की प्रवृत्ति नहीं है, यद्यपि ऐसी प्रवृत्ति के लोग आन्दोलन से लाभ उठाने के लिए इस से सम्बद्ध रहे है और रहेगे । यह जाग्रति वास्तव मे संस्कृति का पुन जागरण है, सस्कृति को लोक जीवन मे पुन. स्थापित गौर प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति, और लोक जीवन की पीठिका पर ही सस्कृति पुनरुज्जीवित और प्राणवान हो सकती है । जनता के दैनिक जीवन मे प्रविष्ट होकर और उसका अंग बन कर ही कला और संस्कृति सशक्त और शक्ति प्रेरक हो सकती है, और उस विश्व-संस्कृति की नींव पड़ सकती है, जिसे लेकर हम इतना थोथा वाद-विवाद करते है। जैसा कि मै कह चुका, हिन्दी साहित्य कभी तटस्थ नहीं रहा और अपने भीतर प्रकट होने वाली एक नई हलचल से भी डरने का कोई कारण नही देखता, क्योकि वह इसे प्रादेशिक अथवा जनपदीय प्रतिभा के रूप मे स्वीकार करता है। निस्सन्देह ऐसे लोग भी हैं जो सास्कृतिक ऐक्य की दुहाई देकर विरोध का सगठित प्रयत्न करना चाहते है, किन्तु यह सन्तान को मां से बचने की अविवेकी चेष्टा है । जनपदीय संस्कृतियों का त्याग किसी एक परम्परा का बहिष्कार नहीं, परम्पराओ की जननी का बहिष्कार है।'

हमें आशा करनी चाहिए कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन जनपद-संस्कृति के प्रस्ताव पर फिर से विचार करेगा, और इस ओर तटस्थ रहने की बजाय एक नया नेतृत्व प्रदान करेगा।
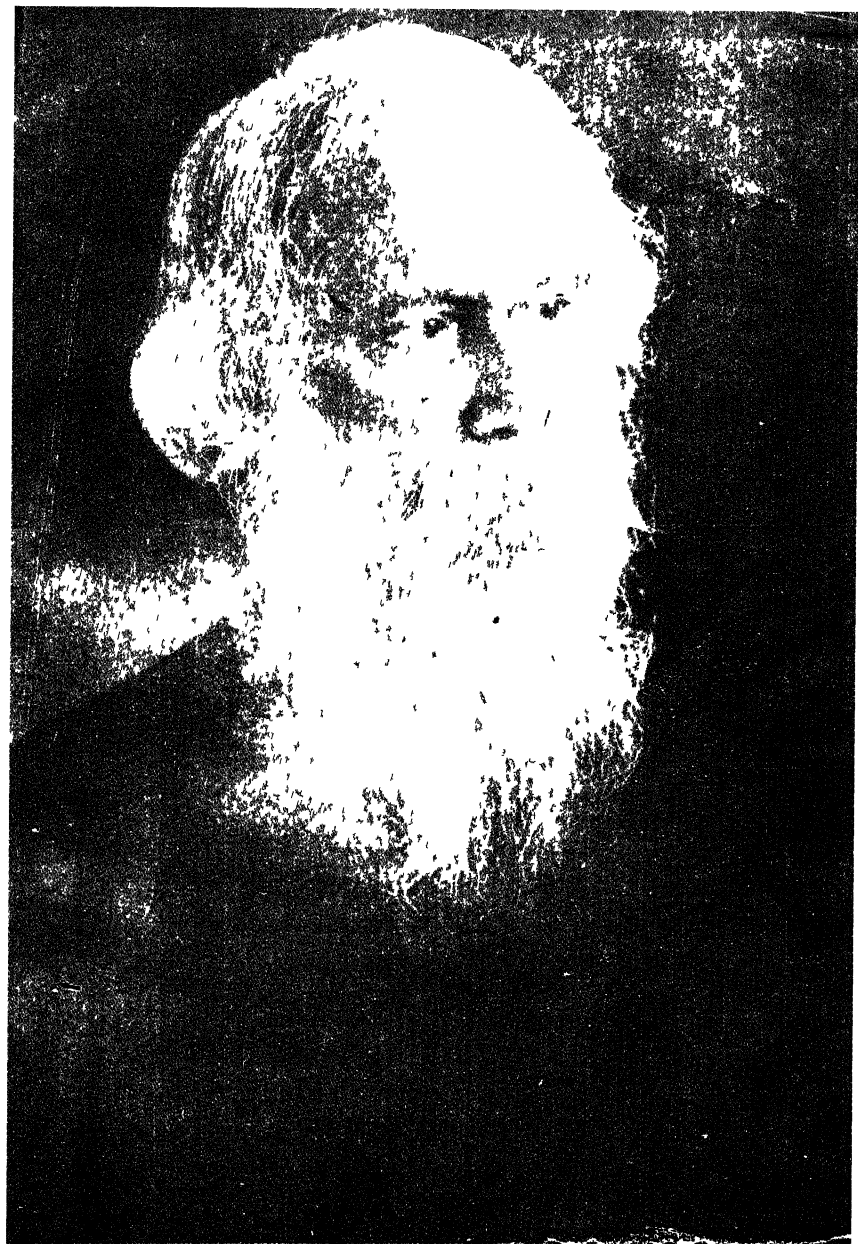
रवीन्द्रनाथ ठाकुर
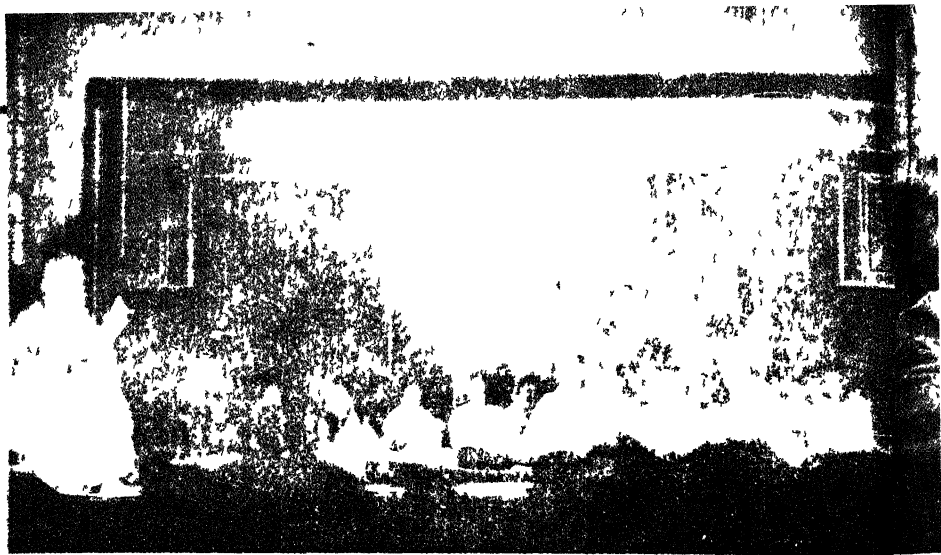
रवीन्द्रनाथ ठाकुर शान्तिनिकेतन मे विद्यार्थियो के सम्मुख

रवीन्द्रनाथ ठाकुर शान्तिनिकेतन मे 'हिन्दी भवन' का उद्घाटन करते हुए

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ लेखक

रवीन्द्रनाथ ठाकुर,
शान्तिनिकेतन के
जन्मदिन (७ पौष) के
अवसर पर
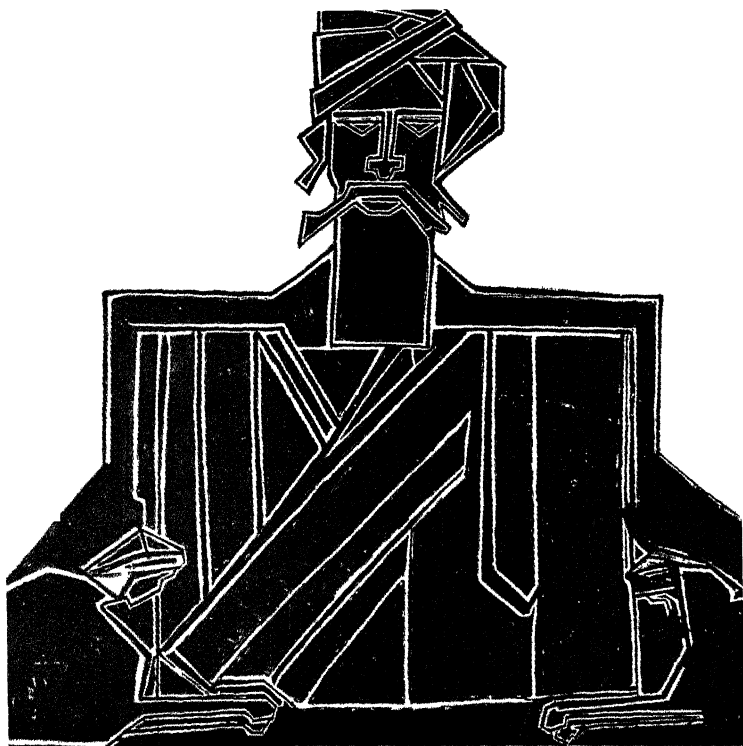
रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा अंकित एक चित्र

रवीन्द्रनाथ ठाकुर शान्ति निकेतन मे
गांधी जी का स्वागत करते हुए।
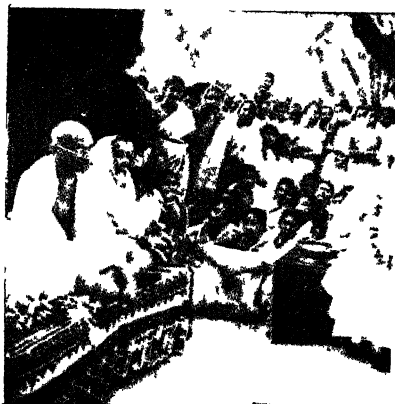
शान्ति-निकेतन के विद्यार्थियो के सम्मुख
गांधी जी और कस्तूर बा

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर
(चित्रशाला मे)

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का एक चित्र
(नन्दलाल वसु द्वारा पुन अंकित)

थैले सहित नारी
चित्रकार : अवनीन्द्रनाथ ठाकुर
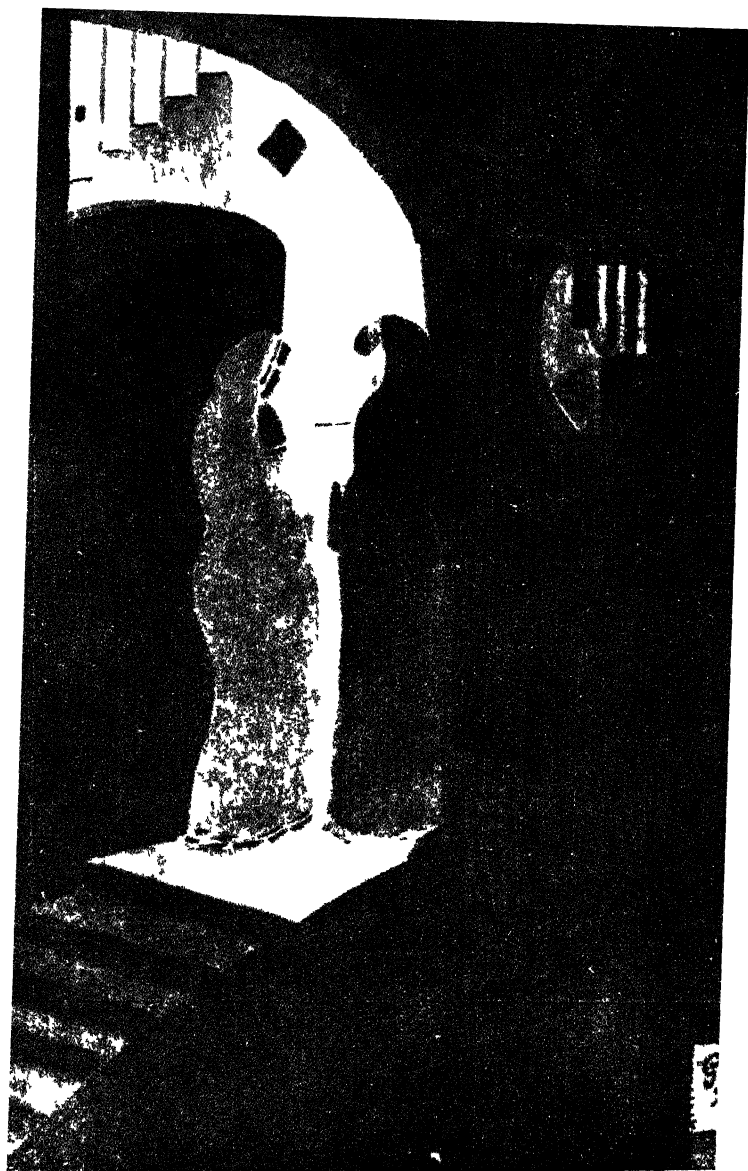
सीढ़ियो मे भेट

चित्रकार . गगनेन्द्रनाथ ठाकुर

नन्दलाल वसु के साथ

एकतारा

चित्रकार . नन्दलाल वसु

रामानन्द चट्टोपाध्याय

देवीप्रसाद राय चौधरी के साथ
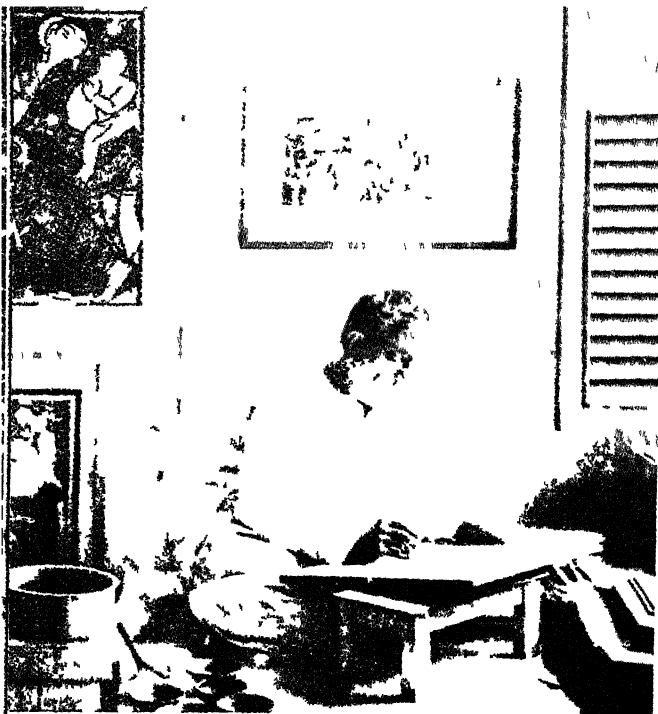
यामिनीराय
चित्रशाला मे

सन्थाल नृत्य
चित्रकार : यामिनीराय

गोपिनी
चित्रकार यामिनीराय

चित्रित घड़ा
चित्रकार : यामिनीराय

अमृत शेरगिल

गाथाकार
चित्रकार : अमृत शेरगिल

आल इण्डिया रेडियो दिल्ली मे राष्ट्रपिता का प्रथम आगमन

श्री जोग के जल-प्रपात

सर्व-प्रथम कलकत्ता मे काका कालेलकर के मुख से जोग-प्रपात की चर्चा सुनी थी। वे बोले, 'जोग की झांकी' मेरा लेख जरूर पढ़ लेना। मैं यहां बैठा हूँ पर जोग का जल-प्रपात इतना ऊंचा है कि आंख बन्द करके मन मे उसका चित्र देखने लगता हूँ, तो एकदम पुलकित हो उठता हूँ।'

मैंने कहा, 'मैं भी मैसूर जाकर जोग के दर्शन करूंगा। फिर मेरे मन पर भी इसका चित्र अंकित हो जायगा और मैं भी आंखे बन्द कर के उस चित्र की ओर झाँक लिया करूगा।'

पता चला कि जब काका कालेलकर ने पहली बार जोग देखने की ठानी, वे बापू के साथ दक्षिण की खादी-यात्रा पर थे। चलते-चलते वे शिमोगासागर तक जा पहुंचे जहाँ से जोग केवल पंद्रह मील रह गया था। जब बापू से कहा गया कि वे भी जोग देखने चले, तो वे बोले, 'मैं ऐसी स्वच्छन्दता करने लगूं, तो स्वराज्य का काम कौन करेगा?' काका कालेलकर ने बहुत चाहा कि किसी तरह बापू का मन जोग देखने के लिये उत्सुक हो उठे, परन्तु उनका कहना-सुनना सब

बेकार गया। जब उन्होंने बड़े प्रभावशाली शब्दों मे बताया कि जोग का जल नौ सौ साठ फीट की ऊंचाई से गिरता है, तो बापू ने हस कर कहा, 'आकाश काजल तो इससे भी अधिक ऊंचाई से गिरता है।' इस पर काका को हार माननी पड़ी। उन्होने चाहा, चलो महादेव भाई को ही साथ लेते चले पर बापू की आज्ञा तो जरूरी ठहरी। जब बापू के सामने यह प्रस्ताव रखा गया, तो वे हंस कर बोले, 'मै ही महादेव भाई का जोग हूँ।' इतनी खैर हुई कि काका को राजाजी जैसा साथी मिल गया। काका ने बड़े प्रेरणामय शब्दो मे विराट के इस विभूति-दर्शन का बखान किया। उन्होंने यह भी बताया कि 'जोग' हमारा स्वदेशी नाम है, इसका विदेशी नाम है 'गेरसप्पा फाल्स'। उत्तर कन्नड़ और मैसूर की सीमा पर स्थित यह जल-प्रपात दुनिया भर मे सर्वश्रेष्ठ नहीं, तो सर्वश्रेष्ठों मे से एक अवश्य है। लार्ड कर्जन ने इस देश की धरती पर पग धरते ही इस जल-प्रपात के दर्शन करने का कार्यक्रम बना लिया था और जिस स्थान पर खड़े हो कर उसने यह अद्भुत दृश्य देखा था, मैसूर स्टेट की ओर से उसे 'कर्जन-सीट' नाम दे दिया गया।

काका कालेलकर ने अपनी प्रथम जोग-यात्रा की चर्चा करते हुए यह भी बताया था कि उन्हे शीघ्र ही लौट जाना पड़ा था। और वे इस बात का पूरी तरह अनुभव भी न कर पाये थे कि इतनी ऊंचाई से कूदने के पश्चात् शरावती नदी आगे कहाँ जाती है, किस शान से अग्रसर होती है, एक नव-विवाहिता कुलवधू की भाँति उसकी वेशभूषा कितनी आकर्षक है, और सरित्पति के साथ उसका सगम प्रकृति के चित्र-पट को कितना रागात्मक व सजीव बनाता है। शरावती मे नौका-विहार की इच्छा पूरी करने के लिए वे पूरे बारह वर्ष बाद वहां फिर जा पाये। उन्होंने बड़े विस्तार से बताया कि उनकी पहली और दूसरी जोग यात्रा मे

सबसे बड़ा अन्तर यह था कि जहां पहली बार वे शरावती के उद्गम से जोग तक पहुचे, वहा दूसरी बार शरावती के मुख से प्रवेश करके नौका मे प्रतीप-यात्रा करते हुए जोग की ओर गये, और जहा नौका का और आगे जाना असंभव हो गया, वहां से वे मोटर द्वारा पहाड़ की घाटी से होते हुए ऊपर राजा-प्रपात के सिर पर जा पहुचे, जो एकदम नीचे ६६० फीट की गहराई मे कूदता है और जिसे शत-शत जल-प्रपातो का सम्राट कहा जा सकता है।

इस अर्धचन्द्राकार दर्रे मे चार जल-प्रपात है। राजा-प्रपात की बाईं ओर अपनी गर्जन से मीलो तक उस घाटी और आस-पास की पहाड़ियो को निनादित करता हुआ रुद्र-प्रपात (Roarer Fall) राजा के चरणों मे गिरता है। राजा और रुद्र की अपनी अपनी शान है। वीरभद्र-प्रपात (Rocket Fall) की भी शान कोई कम नहीं, क्योंकि काका कालेलकर के कथनानुसार—'वह हाथी के कुंभस्थल के सदृश एक चट्टान पर जैसे ही गिरता है, उसमे से आतशबाजी के बाण जैसे सैकड़ो फव्वारे छूट पड़ते हैं · क्या यह शिवजी का तांडवनृत्य है? या महा-कवि व्यास की प्रतिभा का नवनवोन्मेषशाली कल्पना-विलास है? या भूमिमाता के वात्सल्य की स्तनधार के फुहारे फूट निकले है? सचमुच वीरभद्र देखने वाली आंखों को पागल बना देता है।' वीरभद्र के बाई ओर पर्वत-कन्या पार्वती (Lady Fall) का लावण्य दृष्टिगोचर होता है। इन चारों प्रपातो के सरक्षण का भार उन बड़े-बड़े पहाड़ो ने ले रखा है, जो दाहिनी ओर खड़े है और प्रपातो की अठपहरिया अखण्ड गर्जना को प्रतिपल प्रति-क्षण प्रतिध्वनित किया करते हैं।

दूसरी जोग-यात्रा की चर्चा करते हुए काका कालेलकर ने बताया, 'गर्मी के दिन थे। भारंगी मे पानी कम हो गया था।

भारंगी भी शरावती का एक नाम है। भारंगी अर्थात् बारह गंगा। शुरू से शरावती का यही नाम है। बीच मे उसे शरावती कहने लगे है। अन्त मे जहा वह समुद्र मे गिरती है, उसे बाल-नदी कहते है। हां, तो भारगी मे पानी बहुत कम हो गया था। वीरभद्र की जटाएं भी देखने मे नही आतो थी। रुद्र की छलांगें भी छोटी हो गई थी। पार्वती भी मानो कोई विरहिणी ही तो थी। हमने सोचा, राजा का रूप तो क्या बदला होगा! लेकिन सच पूछो तो राजा भी बहुत कुछ बदल गया था, जैसे कोई सम्राट विश्वजित्-यज्ञ करने के बाद अकिंचन हो जाता है। हम मैसूर-राज्य की अतिथिशाला मे ठहरे। उत्तर की ओर से हम जोग के दर्शन के लिए गये। ऊपर बड़ी धूप थी, नीचे फुहार थी। राजा का मुकुट हमारे सन्मुख था। नीचे की घाटी का वह दृश्य उस समय कितना अपूर्व हो उठा था! राजा की धारा नीचे धरती तक पहुचने से पहले शतधा विदीर्ण हो कर सहस्रधारा ही तो बन गई थी। कुछ और नीचे इस सहस्रधारा के जल-बिन्दु मौक्तिक-माला की शोभा दिखा रहे थे। फिर और नीचे ये मौक्तिक भी चूर्ण हो कर मोटे-मोटे कण बन गये थे। फिर ये जलकण भी स्वच्छन्द हो उठे, जैसे फिर भिन्न हो कर सीकरपुंज मे परिणत हो गये हो, और बादलो की तरह विचरने लगे हो। फिर और नीचे ये बादल भी धुएं मे परिणत हो गये थे। यह सुन्दर दृश्य हम देर तक देखते रहे। हम घटे दो घटे के मेहमान ही तो थे। आंख, कान, नाक, त्वचा से हम इस सौंदर्य को पीते रहे और बहुमुखी कल्पना द्वारा इस आनन्द को शतगुणित करते रहे। हमारे साथ दो-तीन कन्याएं भी थीं। रात को उनके लिए हमने एक अलग नौका मंगाई थी। दोनों ओर की दो नौकाओ मे हम लोग बैठ गये, बीच की नौका मे कन्याएं थीं। ऊपर चन्द्रमा की मुस्कान, नीचे शरावती की

जलधारा पर इन कन्याओं का श्रुति मधुर संगीत। नारियल और सुपारी के वृक्षपुंज अपना ऊंचा सिर समीप ला-लाकर मानों इन कन्याओं के गान की दाद देने लगे। चन्द्रमा अस्त हो गया, तो अंधकार के साम्राज्य मे आस-पास की पहाड़िया भी विलीन हो गईं। न जाने हम कब निद्रादेवी की गोद मे सो गये। सवेरे कन्याओं ने उठते ही अपनी नौका से पुकार कर हमे जगाया। हमने देखा कि उनके मुख पर वह प्रसन्नता नहीं थी, जो जोग का दृश्य देखते समय प्रतिबिम्बित हो उठी थी—उस समय वे एक-दूसरे की आंखो मे देख-देखकर अपना विस्मय बढ़ा रही थीं, और उनका वह विस्मय देख कर हमे ऐसा लगा, मानो हमी इस काव्यमय सृष्टि के जनक हों।'

❀ ❀ ❀

कलकत्ता में काका कालेलकर से भेट होने के कोई डेढ़ वर्ष बाद मुझे जोग-यात्रा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। काका का यात्रा-वर्णन मेरी आंखो के सम्मुख एकदम सजीव हो ऊठा।

जैसा कि स्वाभाविक ही था, मै मैसूर-राज्य मे घूम-घूम कर जोग के सम्बन्ध मे लोक गीत ढूंढने लगा। इतने बड़े जल-प्रपात का नाम मैसूर के किसी लोक-गीत मे न आया हो, यह तो मै मान ही नहीं सकता था। पर जब बहुत यत्न करने पर भी मै ऐसा कोई गीत न सुन सका, तो दिल पर चोट लगी। मै बहुत सटपटाया। इधर से हताश हो मैने चाहा कि कोई लोकोक्ति ही मिल जाय, जिसमे जनता की सामूहिक प्रतिभा ने इस विख्यात जल-प्रपात को अभिनन्दित किया हो, परन्तु ऐसी कोई लोकोक्ति भी तो मेरे हाथ न लगी। शत-शत पहेलियो पर सिर पटका, पर वहां भी इस जल-प्रपात की कोई चर्चा न मिली। चलो किसी लोक-कथा मे ही जोग की सुन्दरता का थोड़ा बहुत बखान मिल जाय—यह सोच कर मैंने मैसूर की लोकवार्त्ता के

इस मोहल्ले में भी लाख पूछ-ताछ की, पर सब व्यर्थ। लोक-वार्त्ता को जोग से ऐसी क्या नाराजगी थी, यह बात मै यत्न करने पर भी न समझ सका। एक-दम उपेक्षा—और वह भी इतने बड़े जल-प्रपात की! यह तो वस्तुत. एक मूक अभिशाप ही था!

मेरे साथी ने ताली बजा कर जाने किस-किस अभिनय-मुद्रा से जन्म-भूमि की सुन्दरता के इस प्रतीक का अभिनन्दन किया।

मैने कहा, 'मै दोषी हूँ।'

'दोषी ?' मेरे साथी ने हैरान हो कर पूछा।

मैने फिर कहा, 'मेरा यही दोष है कि मै यहां इतनी देर बाद क्यों आया।'

'यह तो कोई दोष नहीं,' मेरे साथी ने मानों मेरी वकालत करते हुए कहा।

मैसूर-राज्य द्वारा स्थापित अतिथिशाला की 'विजिटर्स बुक' मे मेरे साथी ने ये शब्द लिखे, 'ओ जोग के जल-प्रपात, तू इतना सुन्दर है! तू संसार का सबसे बड़ा जल-प्रपात है।'

मैने उसके कथन की सचाई को ललकारा, तो उसने कुछ-कुछ बिगड़ कर कहा, 'देखते नही, विदेशियों तक ने विजिटर्स-बुक मे जोग की प्रशसा मे क्या क्या लिख रखा है ? क्या हम विदेशियो से भी गये-गुजरे है। कि जन्मभूमि की सुन्दरता देख कर गर्व न करें ?'

एक यात्री ने लिखा था, 'आज मैने यह जल-प्रपात देखा। जी मे आया कि इसे उठा कर अपने देश ले जाऊं।'

एक दूसरे यात्री ने लिख रखा था, 'प्रकृति-माता का सब से बडा सौंदर्य-स्थल।'

मैने जल्दी जल्दी इस 'विजिटर्स बुक' के पन्ने उलटने शुरू

कर दिये। मैंने जगह-जगह विभिन्न यात्रियों की ये सम्मतियां देखीं—

'यह जल-प्रपात भगवान् की सब से बड़ी कविता है।'

'प्रकृति के चित्रपट पर स्वयं भगवान् ने अपने हाथ से अंकित किया है यह चित्र!'

'जल-प्रपात से मैंने एक सर्वोत्कृष्ट गान की स्वर-लिपि सीखी!'

मै क्या लिखूं? यह प्रश्न मेरी कल्पना के तार हिलाने लगा। बहुत सोच सोच कर मैंने लिखा—

'ओ जोग के जल-प्रपात, जो कोई तुझे गेरसप्पन फाल्स के नाम से पुकारता है, भूल करता है। जोग कितना प्यारा नाम है। काका कालेलकर तुझे दो बार देख गये। मै केवल एक बार तुझे देख पाया। क्या तू मुझे दोबारा नही बुलायेगा, ओ जोग के जल-प्रपात?'

एक लेखक की श्रद्धांजलि

हिमालय के समान महान, सागर के समान गम्भीर स्वतन्त्रता संग्राम के प्रतीक, विश्व शान्ति के नेता . सत्य और अहिंसा के ऋषि, मानवता के मन्त्रकार अपनी भूलो को मुक्तकठ से स्वीकार करने के लिये सदैव तत्पर, व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के सम्मुख लोक कल्याण के समर्थक और साधक ऐसे हमारे बापू की हत्या हमारे ही एक देशवासी के हाथों हुई, यह सोचकर मैं कुछ इस प्रकार लज्जित हो उठता हूं जैसे अब हमारे इतिहास के पृष्ठों से यह कलक किसी के धोये नही धुल सकेगा। आज समस्त भारत रो रहा है, समस्त ससार रो रहा है, और मेरे अश्रु भी आज थामे नहीं थमते।

उस दिन में प्रार्थना सभा मे जाते जाते रह गया, और इण्डिया काफी मे काफी का कसैला घूंट भर रहा था जब अचानक किसी ने कहा 'गांधी जी गोली से मार डाले गये।' मुझे तनिक भी विश्वास न आया। किन्तु मन मे विषाद की रेखाएं दौड़ गईं। थोडी देर बाद एक व्यक्ति बाहर से आया और बोला . 'गाधी जी खत्म हो गये।' मैं अपने दो मित्रो सहित उठा और बिरला

हाउस की ओर चल पडा। रास्ते भर ऐसा लगा मानो यह सब मिथ्या हो और प्रर्थना शेष होने से पहले पहले हमारे तागे का घोडा हमे बिरला हाउस के द्वार पर पहुँचा देगा और हम बापू से मिल सकेगे।

किसी ने सड़क से कहा—'मृत्यु का समाचार कभी मिथ्या नही होता।' बिरला हाउस के द्वार पर भीड मे खडी हुई एक शरणार्थी स्त्री कह रही थी—'मै भी गांधी को कोस लेती थी, कभी कभी उमे बुरा भला भी कह लेती थी, पर मै तो मा हू। मां की गाली बेटे को कैसे लग सकती है। हत्यारे, तेरा क्या बिगाडा था गांधी ने।'

किस प्रकार मै उस कमरे के भीतर पहुचा जहां मृत्यु के पश्चात भी बापू के मुख पर शान्त दृढ़ता देखने को मिली, इस की गाथा छेडने की आवश्यकता नही। सभी गुमसुम बैठे थे। किसी से कुछ पूछनेकी हिम्मत न हुई। कुछ लोग सिसकिया भरते भरते रुमाल से आखे पोछ रहे थे। आभा और मनु, जिनके कन्धों पर स्नेहशील हाथ रख कर बापू प्रार्थना मभा मे आया करते थे, दोनो रो रही थी। जैसे उन्हे विश्वास हो कि उन के अश्रु देख कर बापू निद्रा से जग जायंगे। परन्तु सभी यह जानते थे कि इस 'चिर निद्रा' से अब बापू की आंखे नही खुलेगी। मेरी आंखे बराबर बापू के शान्त और स्थिर चेहरे पर टिकी हुई थी। एक बार ऐसा लगा कि कही बापू मजाक तो नही कर रहे। उनके चेहरे पर मधुर प्रकाश था। कुछ लोग बैठे थे, कुछ खड़े थे। इनमे नेता भी थे, बापू के स्नेही और निकटवर्ती भी, और बापू के भक्त भी। इनमे स्त्रियां भी थीं। सभी की आखें बापू को फिर से जगता देखने के लिए उत्सुक थीं।

कमरे के बाहर भी लोग जमा थे और बापू के अन्तिम

दर्शन के लिए उत्सुक थे। इन मे ऐमे लोग भी थे जो दरवाजों के शोशे तोड डालने की धमकी दे रहे थे। स्वयसेवक उन्हे परे रहने और शान्ति रखने के लिए कह रहे थे। बाहर का शोर सुन कर अन्दर बैठे लोग शायद पूछना चाहते थे कि यह कैसा शोर है। आखिर यह प्रबन्ध किया गया कि किसी तरह बाहर जमा हुए लोगो को बापू के दर्शन हो सके।

वहां बैठे बैठे एक ने कहा, 'आज शुक्रवार है। जिस दिन ईसा को सूली पर लटकाया गया था उस दिन भी शुक्रवार था।

मैने भी पहले कई बार यह अनुभव किया था कि बापू किसी ईसा से कम नही। परन्तु उस समय मै कुछ देर चुप बैठा रहा।

उस सज्जन ने फिर कहा, 'मै तो समझता हूं कि जिस दिन बुद्ध की मृत्यु हुई होगी उस दिन भी शुक्रवार ही होगा।'

'मेरा इतिहास का ज्ञान कुछ कम है', मैने कहा, 'यद्यपि मैं यह मानता हूं कि आगे चल कर इतिहास लेखक बुद्ध और गांधी को एक ही श्रेणी के जन-नेता स्वीकार करेगा।

वहां बैठे बैठे मुझे वह दिन याद आया जब कि मैने गुरुकुल कागडी की रजत-जयन्ती के अवसर पर पहले पहल बापू के दर्शन किये थे। फिर मुझे लाहौर के उस प्रोफेसर का ध्यान आया जिसने मुझे अच्छी अगरेजी सीखने की दृष्टि से नियम पूर्वक अगरेजी 'यंग इण्डिया' पढ़ने की ताकीद की थी। फिर अजमेर के उस मित्र का चेहरा मेरी आखो के आगे घूम गया जिसने मुझे बापू की 'आत्मकथा' पढ़ने को दी थी और जिसने मेरे जीवन के दृष्टिकोण पर गहरा प्रभाव छोडा था। लाहौर काग्रेस के अवसर पर बापू के दोबारा दर्शन करने की घटना भी एक दम उभर कर सामने आ गई। डण्डी यात्रामे सम्मिलित होने का मैने इरादा किया था, परन्तु मै ऐसा नहीं कर सका

था। १९३४ में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के साथ कलकत्ता में बापू के तीसरी बार दर्शन हुए। १९३५ में जब मैं सीमा-प्रान्त के लोकगीत संग्रह कर रहा था, बापू के साथ मेरा पत्र व्यवहार हुआ। और बापू ने लिखा, 'जो कुछ भी लिखो मुझे भेजते रहो।' फैजपुर कांग्रेस के अवसर पर मैं बापू से कितनी ही बार मिला, जब कि उन्होंने हंसी हंसी में पंजाबी सीखने की इच्छा प्रकट की। उनकी ओर से वर्धा चलने का निमन्त्रण भी मिला। परन्तु मैं बम्बई जा रहा था, और इसलिए बापू के साथ वर्धा न जा सका। आज उस दिन की बात सोचता हूं तो पछता कर रह जाता हूँ। फिर एक बार रामपुर के रेलवे स्टेशन पर सपरिवार बापू से भेंट हुई। बापू ने हंस कर कहा था, 'अब मालूम हुआ कि तुम किस प्रकार लम्बे चक्कर लगाते हो, तुम तो अपना घर अपने साथ उठाए फिरते हो।' मैंने कहा था, 'बापू, मैं एक खाना बदोश ही तो हूं।' मेरी बिटिया के हाथ से कुछ केले स्वीकार करते हुए बापू ने हंसी कर कहा था, 'बच्चों की चीज़ मैं कभी मुफ्त नहीं लेता।' और इतना कह कर उन्होंने उसे फूलों के कितने ही हार दे डाले थे जिनकी उसे अब तक याद है।

पिछले दो वर्षों में अनेक बार बापू के दर्शन हुए। दीवाली के दिन जब कि पहिली बार दिल्ली के ब्राडकास्टिंग हाउस में अपना भाषण ब्राडकास्ट करने आये, मुझे उनके समीप बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ३० दिसम्बर १९४७ की दोपहर भी मुझे याद है जब मैं उन से बिरला हाउस में मिला और उन्होंने मेरी पुस्तक 'धरती गाती है' की प्रस्तावना लिखने की प्रार्थना सहर्ष स्वीकार कर ली। उस दिन मेरे निजी जीवन तथा इस की रूप रेखा के सम्बन्ध में उन्होंने अनेक बातें पूछीं। यह उन की आत्मीयता का प्रमाण था। जिस दिन उन्होंने अपना अन्तिम उपवास खोला, उस दिन भी मुझे उन्हें बधाई देने का

सौभाग्य प्राप्त हुआ।

हत्या की दुर्घटना से पहले दिन मै प्रार्थना सभा मे सम्मि-लित हुआ था, इसके पश्चात् उनके साथ बाते करते-करते मैं उनके कमरे के भीतर तक गया। मैंने कहा, 'बापू, सुना है आप वर्धा जा रहे है।'

वे हस कर बोले, 'तुमने भी अखबार मे पढ़ा, मैंने भी अख-बार मे पढा, पर जो गाधी वर्धा जा रहा है उसे मालूम नही।'

उनकी अन्तिम प्रार्थना भाषण के अन्तिम शब्द मेरे कानो मे गूज रहे है। उन्होंने कहा था कि उनका हिमालय दिल्ली मे है और यदि वे सचमुच कभी हिमालय गये भी तो सब को अपने साथ लेकर जायंगे। उनकी अरथी के जलूस मे लाखो लोगों की भीड़ देख कर मैंने सोचा, 'हम सब बापू के साथ हिमालय जा रहे है।

एक लेखक के रूप मे मैंने बापू से बहुत कुछ प्राप्त किया। जनता के प्रति और विशेष रूप से हरिजनो के प्रति उन्हीं के सहयोग से मेरे हृदय मे असीम आठ्ता उत्पन्न हुई। जब हृदय भावो से उमड़ रहा हो तो फिर भाषा स्वयं प्रवाहित हो उठती है, यह बात मैंने सबसे अधिक बापू ही से सीखी। उनकी लेखनी शैली मुझे सदैव प्रिय रही है। इस शैली की सरलता और स्वच्छता ही इसकी सब से बड़ी सुन्दरता बन कर मेरे सम्मुख आई। वे कुछ ऐसे लिखते थे जैसे किसी से बाते कर रहे हो। सरल शब्द उनके हाथों मे आकर नये प्राण से सजीव हो उठते थे। उनकी विचार धारा मे शत-शत शताब्दियो के भारतीय चिन्तन की परम्परा का इतिहास निहित है। इसी लिए आज जब बापू का भौतिक शरीर हमारे बीच से उठ गया और चारो ओर अन्धकार है, मेरे सम्मुख एक चित्र उभरने लगता है—मानवता की वेदना सत्य और अहिंसा के सम्मुख नतमस्तक है और बापू उसे आशीर्वाद दे रहे है।

स्वतन्त्रता की प्रथम वर्षगांठ

जैसे साहित्य का मूल तत्व है भाषा, वैसे ही स्वतन्त्रता का मूल तत्व है जनतन्त्र। अर्थात् जिस प्रकार जीवन के गहरे सम्पर्क मे आकर भाषा साहित्य के लिए कच्चे माल का काम देती है, उसी प्रकार यह कहना भी अनुचित न होगा कि जनतन्त्र के विकास द्वारा ही स्वतन्त्रता का जन्म होना सभव है। यों लिखने को तो हर कोई कुछ न कुछ लिख सकता है, पर जैसे घटनाओं के पीछे छिपे हुए सामाजिक अभिप्राय को स्पष्टता और पूर्णता के साथ उद्घृत करने के लिए वडी होशियारी से चुने हुए शब्दो वाली भाषा की आवश्यकता पडती है, वैसे ही जनतन्त्र की स्वस्थ और प्रगतिशील शक्ति द्वारा ही वास्तविक स्वतन्त्रता की परम्पराये स्थिर हो सकती है। साहित्यिक भापा एक दिन मे तैयार नहीं हो जाती, क्योंकि भले ही किसी साहित्यिक भाषा का उद्गम जनता की बोलचाल की भापा मे होता हो जैसा कि रूसी भापा की चर्चा करते हुए मैक्सिम गोर्की ने एक स्थान पर लिखा है, पर वह अपने मूल स्रोत से बहुत भिन्न होती है,

क्योंकि वस्तुओं को शब्दों द्वारा प्रस्तुत करने की क्रिया में उसमें से सभी क्षणिक अनगढ़ और विकृत ध्वनियों वाले तत्त्व निकल जाते हैं, जो बोलचाल की भाषा में पाए जाते हैं, पर जो कई कारणों से भाषा की मूल आत्मा के साथ मेल नहीं खाते। इसी प्रकार जनतन्त्र की उसी अवस्था में जब स्वार्थपूर्ण आपाधापी के लिए कोई स्थान न रह जाय, स्वतन्त्रता का मीठा फल आनन्दप्रद हो सकता है।

१५ अगस्त के बाद देश की नाव कई बार डगमगाई, पर हमारे नाविकों ने इसे बचा लिया। इसका बहुत सा श्रेय राष्ट्र-पिता को ही है, जिसके बलिदान द्वारा एक प्रकार से देश का हृदय-परिवर्तन हो गया। हमारी सब से बड़ी आवश्यकता है जनतन्त्र की शक्ति को ठीक-ठीक समझना। कहते हैं जब पहले पहल रूस में प्रजातन्त्र की स्थापना हुई एक मोटी रूसी स्त्री अपनी नवोपार्जित स्वतन्त्रता की अभि-नन्दन करने के लिए सेंट पीटर्सबर्ग की सड़क के बीच में चलने लगी। सब लोगों ने उसे पूछा कि वह सड़क के बीच में क्यों चल रही है, वह बोली, 'अब हम स्वतन्त्र हैं, अब हमें कोई बन्धन नहीं, कोई रुकावट नहीं, अब हम सड़क के बीचो-बीच चलेंगे।' इस देश में भी ऐसे लोगों की कुछ कमी नहीं जो स्वतन्त्रता का सही अर्थ समझते नहीं हैं।

क्रांति और विद्रोह अच्छी चीज़ है, पर अच्छी, बुरी मर्यादा ध्यान रखे बिना केवल नारे लगाने से तो स्वच्छन्दता का ही परिचय मिलता है। जनतन्त्र की अपनी मर्यादा अवश्य स्थिर रहनी चाहिए। स्वतन्त्रता की वर्षगांठ के राष्ट्रीय पर्व पर हम एक मत होकर जनतन्त्र का समर्थन करने का निर्णय कर लें तो देश प्रगति के पथ पर अग्रसर हो सकता है।

संस्कृति पहली शर्त है, और यह वस्तुत. किसी एक मर्यादा

या व्यवस्था के बिना सभव नही। श्रीवासुदेव शरण अग्रवाल ने भारतीय सस्कृति के स्वर्णयुग का बखान करते हुए लिखा है मध्य एशिया की खुदाई मे जो पुरातत्त्व की सामग्री मिली है, कोरिया, मगोलिया चीन, तिब्बत और अफगानिस्तान मे जो साहित्य और कला का भडार मिला है उसे देख कर सच-मुच ऐसा ज्ञात होता है कि संस्कृति का फैलता हुआ यश पर्वतों पर चढ़ कर उस पार निकल गया, हमारी भौगोलिक सीमा के परकोटे उस यश को रोक न सके। भारतीय आचार्यों के झुंड और चीन-यात्रियो के दल उत्तरी पर्वतो को चीटियों की भांति सुख से लांघ गए। सौराष्ट्र, अपरान्त, चोल मडल, कलिंग, ताम्रलिप्ति के समुद्र तटो की पखारने वाली जल मालायें भारतीय नाविको और महान नाविकपोताध्यक्षो को दिन रात उदधि के उस पार पहुचने का निमन्त्रण दे रही थी। उस सगीत मे एक प्रबल आकर्षण था। सुमात्रा [श्री विजय] के शैलेन्द्रवंशी सम्राट श्री बालपुत्र देव का एक ताम्रपत्र नालन्दा की खुदाई में मिला है। उसमे अन्य दोनों के अतिरिक्त 'चातुर्दिश आर्य भिक्षु सघ' के दिए हुए कुछ दानों का उल्लेख है। यह भिक्षु संघ उन विद्यार्थियों का था, जो विदेशो मे शिक्षा प्राप्ति के लिए नालन्दा मे एकत्र होते थे। चारों दिशाओं से आने के कारण वे 'चातुर्दिशा' सघ के छात्र कहे जाते थे। जिसका अर्थ आज की भाषा मे वही है जो अन्तर राष्ट्रीय छात्रावास का होगा। नालन्दा के अपने छात्रो का संगठन 'श्री नालन्दा महाविहारीय आर्य संघ' कहलाता था। जिसकी अनेक मुद्राये वहां मिली हैं। इस प्रकार अपने चातुर्दिश नेत्रोंको हमे पुन. उद्घाटित करना है।

यह कहा जा सकता है कि विभिन्न संघो के रूप मे विभिन्न देशी रियासतो का एकीकरण स्वतन्त्रता के पिछले

कई वर्षों मे हमारी सफलता का सबसे बड़ा प्रतीक है। अनेक छोटी छोटी रियासतों का प्रान्तीय सरकारों द्वारा विलीनीकरण भी इस सफलता से सम्बद्ध है ।काश्मीर की समस्या अभी हमारे सम्मुख है जिसे हमने बहुत हद तक सभाल लिया है। हैदराबाद की समस्या उससे कही विकट नजर आती है। हमें आशा करनी चाहिए कि भारत की राष्ट्रीय सरकार बहुत शीघ्र अपने प्रयत्नो मे सफल होगी । शरणार्थियो की समस्या भी कुछ कम कठिन नहीं । वे लोग जिनके घराने उजड गये है, जो सब कुछ गंवा कर उधर से इधर आये, वे फिर से बसना चाहते है। उनकी बेकारी देश के शुभचिन्तको को बुरी तरह खटक रही है। उन्हे काम पर लगाया जा रहा है । उन में जो अधिक परिश्रमी थे वे तो कभी के किसी न किसी धंधे मे जुट चुके है। इस समस्या की सबसे बड़ी कठिनाई है घरों का अभाव । आखिर कब तक लोग अस्थाई शरणार्थी शिविरों मे रह सकते है। सच पूछो तो आज देश मे स्वतन्त्रता की प्रथम वर्षगांठ मनाने के लिए उत्साह की कमी नजर आती है । जैसे हमारी सब खुशी शरणार्थियों के अपार दुःख के नीचे दब कर रह गई हो।

लाल किले पर राष्ट्रीय झंडा फहरा रहा है। पिछले एक वर्ष से यह झंडा इसी तरह फहरा रहा है । राजधानी को इस पर गर्व है। सोचता हूँ इस झंडे ने कितने साहित्यकारो को प्रेरणा दी है । सड़क पर चलते चलते रुक जाता हूं और झंडे की तरफ एकटक देखने लगता हूँ । यहां खड़े खड़े किसी न किसी शरणार्थी से भेंट हो जाती है। उसकी बोलचाल की भाषा के अनेक शब्द उसके ओठो पर आते हैं। यह देखकर चकित रह जाता हूं कि ये लोग ऐसे पुराने और बेहद घिसे हुए शब्दो का प्रयोग बहुत कम करते है जिनका अब कोई

अर्थ ही न रह गया हो। उनकी कहानी सुनते-सुनते मै प्राय सब से सरल, सब से अधिक अर्थवादी और अधिकाधिक उपयुक्त शब्द चुनने का यत्न करता हूं। बीच-बीच मे मेरी आखे राष्ट्रीय झंडे की ओर उठ जाती है। सोचता हूं कि इन शरणार्थियो की कहानियो का कोई अंत नहीं। दुख मे तपकर इनकी भाषा भी कुन्दन बन गई है। अब कोई इन पर गाथा लिखने बैठे तो एक दूसरा महाभारत तैयार हो जाता। जैसे इनकी गाथा मेरे दिमाग के भीतर रम गई हो, जैसे वह भीतर-ही-भीतर मुझे कुरेद रही हो कि कभी तो उसे भी चित्रित करूँ। सामाजिक परिस्थितियो की अनेक गाथाये मुझे छू जाती है। शरणार्थी की गाथा की ओर मेरा यह आकर्षण कुछ इतना बढ़ गया है कि जब तक इनकी दिल की भडास न निकाल लू, शायद और कुछ लिख ही नही सकता। शरणार्थी को क्या चाहिए? किसी घर का एक कोना, और रोटी का एक टुकड़ा। अंधेरी आती है तो सब से पहले शरणार्थी का खीमा हवा मे उड जाता है। किसी नदी मे बाढ आती है तो सारा-का-सारा शरणार्थी शिविर खतरे मे पड जाता है। कही आग लगती है तो शरणार्थी शिविर मे शिविरो की कतारे जल कर राख हो जाती है—जैसे शरणार्थी मुझ से पूछ रहा हो कि इतनी मुसीबत उसी का पीछा क्यो कर रही है। उस समय मेरा सारा ध्यान शरणा पर केन्द्रित हो जाता है। शरणार्थी-शिविरों में देखे हुए अनेक दृश्य मेरी आंखों मे फिर जाते हैं। अपने सब के सब अन्तर्विरोध ये लोग पीछे छोड़ आये हों, यह बात नहीं। वे बराबर अन्तर्विरोधों और सहानुभूतियो मे घिरे हुए नजर आने लगते हैं। वे व्यक्तिगत विशेषताये रखते हैं, जो बदलते हुए जीवन में भी स्थिर नजर आती है। पर सोचता हूँ कि ये लोग कब

तक शरणार्थी-शिविरो मे पडे रहेगे । इधर-से-उधर की ओर चलते समय न जाने क्या-क्या आशाये लेकर चले हों। उस समय जब फिर से राष्ट्रीय झंडे की ओर आंखे उठाता हू तो यों लगता है जैसे वह भी कुछ उदास हो उठा हो । शरणार्थी दया के भूखे नही । मै कहना चाहता हू वे केवल यही चाहते है कि राष्ट्रीय सरकार उनकी अनिश्चित् स्थिति को एक निश्चित् रूप देने मे उन्हे सहयोग दे । वस्तुतः यह उनका अधिकार है जो उन्हे अवश्य मिलना चाहिये। स्वतन्त्रता की प्रथम वर्षगांठ के अवसर पर शरणार्थियो की गाथा का क्षितिज दूर तक फैल जाता है। सोचता हूँ कि कितने साहित्य-कार है, जो इस क्षितिज को देखने के लिए आंख रखते है ।

'ये लोग कहां से आ गये' · 'इन्होने दिल्ली का रूप बिगाड़ डाला।' · 'पटरियों पर दुकाने लगा रखी हैं, सरकार इन्हे उठाती क्यों नहीं। इन्हे न सफाई की परवाह है न फुटपाथ से गुजरने वालो के आराम की।' ऐसी ऐसी बाते कहने वालो की कमी नही । पर कोई इन लोगो की गाथा की पृष्ठभूमि मे झांकने का यत्न नहीं करता।

आसाम के एक लोकगीत में वहां के 'विहू' नामक सामा-जिक पर्व की एक झांकी प्रस्तुत करते हुए एक ऐसे व्यक्ति का चित्र अंकित किया गया है जिसके पास नये वस्त्र नहीं है, जो वह इस अवसर पर सामूहिक-नृत्य मे सम्मिलित होते समय पहन सके। वह कहता है—'विहू पक्षी की रट लगा रहा है। पर मेरे पास विहू के लायक वस्त्र नही। मित्र पूछेगे कि तुम क्यो नही चलते, तो कह दूंगा कि मेरी मा मर गई।' कुछ ऐसी ही अवस्था इन शरणार्थियों की है। वे स्वतन्त्रता की वर्षगांठ के राष्ट्रीय पर्व में कैसे सम्मिलित हों !

फिर भी देखता हूँ कि शरणार्थियों के चेहरों पर भी आज

कुछ-कुछ चमक-सी आ रही है। राष्ट्रीय झडे की ओर देखते हुए जैसे उनके मन अपार आशीर्वाद से भर जाते हों।

देश ऊपर उठता चला जाय, यही आज साहित्यकार का प्रयत्न होना चाहिए। देश मे दबी हुई बौद्धिक शक्ति को फिर से क्रियाशील बनाने की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करना—यही साहित्यकार का उत्तरदायित्व है, जैसा कि मैक्सिम गोर्की ने रूस की चर्चा करते हुए कहा था—'हमारे अधिकाश किसान पहले सिर्फ छ इच की गहराई तक जमीन जोतते थे, अब हम इतनी गहराई तक हल चला रहे हैं कि उसके खजाने की नयी-नयी सम्पदाये हमारे सामने आ रही है। हम सक्रिय रूप से सघटित मानव-बुद्धि की प्रकृति को यान्त्रिक नियमबद्धता के विरुद्ध सघर्ष मे गुंथा हुआ देख रहे है। और देख रहे हैं कि यह सघर्ष उत्तरोत्तर तीक्ष्ण होता जा रहा है और इसमे मनुष्यों की बुद्धि की विजय हो रही है।'

मातृभाषा नहीं छोड़ेंगे

नई दिल्ली के इण्डिया कॉफी हाउस मे उस रोज़ शोर का यह हाल था कि पास बैठे मित्र की आवाज़ भी कभी-कभी इस शोर मे विलुप्त होती नजर आती। ऐसे मे लम्बी बातचीत और भी कठिन हो जाती है। उस समय मातृभाषा और राष्ट्रभाषा पर वादविवाद चल पड़ा था। पहले तो जी मे आया कि कुछ फैसला होने के पश्चात् ही कॉफी को गले मे उंडेलें। परन्तु जब काफी आ गई तो जोशी कॉफी पर टूट पड़ा। वाह रे जोशी—मैंने सोचा, तुझे बस कॉफी चाहिये, भले ही कोई तुझ से तेरी मातृभाषा भी क्यो न छीन ले।

'भई, ऐसा क्यो कह रहे हो? कॉफी हाउस मे भला मातृ-भाषा क्या काम देगी?' जोशी कह उठा, 'यहाँ तो अनेक भाषाओ के स्वर गले मे अटक जाते है। राष्ट्रभाषा की बात तो मैं जानता नहीं, अभी तो अंगरेज़ी से काम चलाने पर मजबूर है हम। काफी लाने वाला तामिल भाषी युवक हिन्दी मे हमारी बात भले ही न समझे, अंगरेज़ी मे वह जरूर कुछ-न-कुछ समझ जाता है।'

मैंने कहा—'यही तो अपमान की बात है। किसी ने कहा है न—'आती है उर्दू जुबां आते-आते' अर्थात् कोई भी भाषा यों ही नही सीखी जा सकती। प्रचुर अभ्यास करना होता है। और इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि एक बार सीखी हुई भाषा का त्याग भी कठिन हो जाता है, बहुत धीरे-धीरे ही छुटकारा पाया जा सकता है।'

काफी ठण्डी हो रही थी। मैंने कहा, 'प्रत्येक बोली और भाषा को जीने का अधिकार है। सच-सच पूछो तो मुझे राजथानी, भोजपुरी और मैथिली का भविष्य उज्ज्वल नजर आता है। कदाचित् काश्मीरी के भाग्य भी जागे, क्योंकि इसे महजूर जैसा लोक-कवि प्राप्त हो चुका है—ऐसा कवि जिसकी कुछ कविताओं के अनुवाद पढ़ कर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक ने प्रशसा की थी। भोजपुरी राहुल जी की मातृभाषा है और उनकी कुछ रचनाएं, भोजपुरी का गौरव बढा चुकी हैं। मैथिली जहां अपने अतीत पर गर्व करते हुए विद्यापति का नाम पेश कर सकती है वहा वह कुछ नये कवियो को भी प्रतिभा का वरदान दे चुकी है।'

कॉफी हाउस के शोर मे मेरी आवाज बार-बार दबने लगती। जरा सजग होकर मैंने फिर कहा, 'बम्बई के जन प्रकाशन द्वारा प्रकाशित धरती के गीत मे हिन्दी की कितनी ही बोलियों मे नये कवियो के जन-गीत संग्रह किये गये हैं। इनमे कुछ गीत इतने सुन्दर और प्राणवान है कि उन जनपदो की बोलियो की शक्ति का कायल होना पडता है जिनमे इनका सृजन हुआ है। इसमे समय-समय पर प्रकाशित किसी-न-किसी जनपद की भाषा मे लिखे गये गीत देख कर भला किस भले आदमी का मन झुंझलायेगा ? 'राजस्थान भारती' मे प्रकाशित राजस्थानी मे लिखी गई कविताओं के प्रति मेरी आस्था बढ़ गई है। सच-

मुच कविता तो ऐसी चीज है कि कवि अपनी मातृभाषा ही लिख सकता है, और फिर यह भी कहा जा सकता है कि बहुत लम्बे प्रयास के पश्चात कवि किसी दूसरी भाषा मे भी उत्तम कोटि की कविता का निर्माण कर सकता है। इकबाल के सम्बन्ध मे कुछ लोगों की धारणा है कि यदि उन्होने उर्दू और फारसी को अपना माध्यम चुनने की बजाय अपनी मातृभाषा पंजाबी को अपनाया होता तो उनकी कविता इससे भी कही अधिक उच्चकोटि की सिद्ध हो सकती थी। यही बात पन्त के सम्बन्ध भी कही जा साकती है।'

'यदि पन्त ने कुमाऊँनी मे कविता की होती तो कैसी रहती?' जोशी ने न जाने क्या सोच कर कहा, 'यह आवश्यक नही है कि कुमाऊंनी मे पन्त की कविता सचमुच उनकी हिन्दी कविता के मुकाबले मे उत्तम ही कही जा सकती है। कुमाऊंनी के मुकाबले मे हिन्दी बहुत विकसित भाषा है। अत जहां हिन्दी के विकास मे पन्तजी ने स्वयं हाथ बटाया वहा यह भी कह सकते है कि उन्हे हिन्दी के विकास और इसकी प्रगतिशील परम्परा से स्वयं भी बहुत लाभ हुआ।'

हम इस परिणाम पर पहुँचे कि कोई किसी को किसी भाषा मे लिखने के लिए मजबूर नही कर सकता, न कोई भाषा ठोक-पीट कर विकसित भाषा के मुकाबले पर खड़ी की जा सकती है।

'हिन्दी को क्या डर है यदि कुमाऊँनी का कोई कवि अपनी मातृभाषा में कविता करे?' मैंने जोशी का मन टटोलने के लिये कहा।

'मै कुमाऊँ से बाहर रहा, और धीरे-धीरे एक प्रकार से कुमाऊँनी को भूलता चला गया। इधर मैंने इसे दोबारा सीखा है। फिर भी मुझे हिन्दी ही अच्छी लगती है'—जोशी रुक-

रुक कर कह रहा था, जैसे साथ-साथ सोचता जा रहा हो कि कही ऐसा कहने से कुमाऊँनी का तिरस्कार तो नहीं हुआ।

जोशी झट कह उठा, 'इसका कारण यही है कि कुमाऊँनी अभी परिमार्जित भाषा नही बन पाई, और न ही कोई प्रतिभाशाली लेखक ही सामने आया जो यह शपथ ले कि वह कुमाऊँनी ही लिखेगा। और जिसके हाथो मे कुमाऊँनी के शब्द नया रूप पा सकें, और प्रयोग के अनेक धरातलो पर नये-नये अर्थों का बोध करा सके। यह प्रत्यक्ष है कि यदि आगे चल कर कुमाऊँनी का उद्धार देखने मे आयेगा तो हम इसे अवश्य हिन्दी ही की भांति सस्कृत शब्दो से विभूपित देखेगे।'

'हिन्दी तो राष्ट्रभाषा होने जा रही है' जोशी ने जोर देकर कहा, 'कुमाऊनी का विकास कभी सम्भव हो सकेगा तो इससे राष्ट्रभाषा हिन्दी का कुछ अहित नहीं होगा। कुमाऊँनी संस्कृति तो पहले ही कवि पन्त की कविता द्वारा हिन्दी साहित्य की विभूति बन चुकी है। यदि हिन्दी को पन्त जैसा कुमाऊँनी कवि न भी मिला होता, तो भी कुमाँऊनी संस्कृति की कोख से जन्म लेने वाले साहित्य से भी तो राष्ट्र-भाषा का गौरव बढ़ा होता। राष्ट्र-भाषा को तो प्रत्येक प्रान्तीय भाषा और बोली के प्रति उदार रहना होगा।'

जोशी बोला 'परन्तु आप कल को मुझसे कहे कि कुमाऊँनी मे कविता लिखना आरम्भ कर दो तो कदाचित मै एक पंक्ति भी न रच सकू।'

'सब भय मिथ्या है। हिन्दी को अपनी शक्ति मे विश्वास होना चाहिए।' मैने सोच-सोच कर कहा, 'यह भय कि कहीं कुछ बोलियां भाषाओ का रूप लेकर हिन्दी के मुकाबले पर न न आ जांय निरर्थक है। हिन्दी की बढ़ती हुई शक्ति को भला कौन रोक सकता है और यदि कोई पास-पड़ोस की बोली जनपद-

संस्कृति की अग्रदूत बन कर हिन्दी का भण्डार भरने के लिए विकास के मार्ग पर चल पड़े तो हिन्दी का हृदय तो गद्-गद् हो जाना चाहिये।'

उस समय रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्द मेरे मन मे प्रतिध्वनित हो उठे—'आधुनिक भारत की संस्कृति एक शतदल कमल के साथ उपमित की जा सकती है जिसका एक एक दल एक-एक प्रान्तिक भाषा और उसकी साहित्य संस्कृति है। किसी एक को मिटा देने से उस कमल की शोभा की हानि होगी। मेरे विचार मे प्रान्तीय भाषाओ के पुनरुज्जीवन मे राष्ट्रभाषा हिन्दी की कुछ भी क्षति नही होगी।'

जोशी ने झुंझला कर कहा, 'तुम किस सोच मे डूबे जा रहे हो। ये बहुत बडी-बडी बाते छोडो। यह हमारे-तुम्हारे सुलझाए सुलझने की नहीं है।'

'अरे नहीं जोशी,' मैने मानो दो व्यक्तियों द्वारा किये गये किसी ठीक फैसले की महत्ता प्रकट करते हुए कहा, 'मेरा ख्याल है कि हम ठीक परिणाम पर पहुच चुके है। हम मातृ-भाषा को नही छोडेगे। इसी मे राष्ट्रभाषा का हित होगा जिसका रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी समर्थन किया है।'

नीग्रो सैनिक से भेंट

उस नीग्रो सैनिक की बाते मुझे हू-ब-हू याद है। थी तो यह दो अपरिचित व्यक्तियों की पहली भेंट, पर सच पूछो तो यह दो जातियो का मिलन था, दो देशों का मिलन। युद्ध के दिन थे। किसी सैनिक से खुल कर बाते करते एक प्रकार की झिझक का महसूस होना स्वाभाविक था। पर मेरी इस झिझक को उस नीग्रो सैनिक ने पहले ही क्षणो मे दूर कर दिया था। दिल्ली में कनाट प्लेस की बैंच पर सिगरेट के कश लगाते-लगाते उसने नीग्रो जाति का समस्त इतिहास मेरे सम्मुख खोल कर रख दिया।

वही बैंच पर बैठे-बैठे उसने मुझे एक नीग्रो गीत के मर्म-स्पर्शी बोल सुनाये थे—

'चाहो तो मुझे पूरब मे दफना दो,
चाहो तो मुझे पच्छिम मे दफना दो,
मै उस तुरही की पुकार बराबर सुनता रहूँगा
सवेरे के वातावरण मे।'

अनन्त दुःख मे भी नीग्रो जाति किस प्रकार सुख की कल्पना

करती रही थी, यह गीत उसी की ओर संकेत कर रहा था। गाते-गाते उसकी आँखे चमक उठी थीं। जैसे उसे अपने पुरखाओं की याद हो आई हो, जिनकी पीठ पर गुलामी की प्रथा के युग मे सदैव चमड़े का लपलपाता हंटर बरसने को तैयार रहता था। जैसे उसे अपने पुरखाओं पर गर्व हो, जिनके बलिदानो के कारण आज वह जीवित था और उसे एक स्वतन्त्र शहरी के अधिकार प्राप्त थे।

मैंने कहीं पढ़ रखा था कि पुराने नीग्रो गीत दुख-दर्द के प्रतीक हैं। क्योंकि जब उनका जन्म हुआ, तो नीग्रो जाति को वेदना-ही-वेदना पीनी पडती थी। वेदना की रेखाओं द्वारा ही नीग्रो गीतों की स्वरलिपि को निश्चित रूप मिला था।

बात करते-करते नीग्रो सैनिक जोर से खिल-खिला कर हँस पड़ता तो यों लगता कि वह अपनी जाति की बची-खुची वेदना पर परदा डाल रहा है। कई बार यों लगता कि उसके मन मे कहीं कोई ऐसी गाँठ पड़ गई है जो हजार यत्न करने पर भी खुलती नही। मुझे एक नीग्रो लोकोक्ति की याद आने लगती—'गाँठ का कहना है कि ससार कभी आगे जाता है, कभी पीछे आता है।' ऐसी भी क्या गाँठ है जिसे मै नहीं खोल सकता, मै उससे कहना चाहता था।

'नये गीतों की भरमार है,' वह कह रहा था, 'पर पुराने गीतों का कोई मुकाबला नहीं।'

'और बाते छोड़ कर कोई पुराना नीग्रो गीत ही क्यों नहीं सुनाते,' मैंने कहा।

वह अस्पष्ट स्वरों मे कुछ गुनगुनाने लगा, जैसे कंठ तक आये हुए किसी गीत को ओठों तक खीच लाने का यत्न कर रहा हो। मै एक सुन्दर चित्र की प्रतीक्षा मे सम्भल कर बैठ गया। मेघ गम्भीर स्वरों मे वह गा उठा। इस गीत की रूप-रेखा कुछ इस

प्रकार थी—

'वह काली-कलूटी छोकरी सदैव मुर्झाई रहती है
नयी जूती लाओ, नयी जूती लाओ
उसके लिए मै नयी जूती ले दूँगा, और नये मोज़े भी।
और स्लीपर भी ले दूँगा, हाँ स्लीपर भी।
जितनी काली होगी झड़-बेरी, उतना ही मीठा होगा रस।'

'शत-शत वर्षों के अत्याचारो के नीचे दबी हुई नीग्रो जाति बराबर गाती रही,' वह कह रहा था, 'यह काली-झड़बेरी का गीत शायद तुम भी कुछ कुछ समझ गए होगे। इस देश मे भी तो काली झड़बेरी होती होगी। काली-कलूटी नीग्रो कन्या का कृपाभाजन बनने के लिए गोरे युवको मे भी संघर्ष चलता है। गोरे लेखको द्वारा लिखे गए अनेक नाटको मे इस कथानक को प्रस्तुत किया गया है।'

इस सवाल पर मैंने उसे अपनी जन्मभूमि सम्बन्धी अनेक बाते बताईं। सोचता हू वे सब बाते उसे भूल तो नही गई होंगी। आज भी अपने मित्रो मे बैठ कर वह इस देश के सम्बन्ध मे चर्चा करता होगा।

उससे बाते करते-करते मैंने यह बात बड़े स्पष्ट रूप मे अनुभव की थी कि नीग्रो और अन्य जातियो की बौद्धिक शक्ति मे कोई बहुत बड़ा स्वाभाविक अन्तर नही हो सकता।

'गणित मे नीग्रो कमजोर है', वह कह उठा।

'गणित को जाने दो,' मैंने हँस कर उत्तर दिया, 'कला और साहित्य मे तो वे किसी भी जाति से टक्कर ले सकते है।'

बहुत देर तक हँसी-मज़ाक चलता रहा। एक नीग्रो लोकोक्ति को लेकर हम खूब खुश हुए—'झूठा आदमी कहता है कि मेरा गवाह यूरोप मे है।' एक और नीग्रो लोकोक्ति भी मुझे बहुत पसंद आई—'सिर और बोझ गरदन की मुसीबत है।' कानो

और आँखों की मिली-भुगत पर भी अच्छी फबती कसी गई थी—'जब कान नही सुनते तो आँखे देखती भी नहीं।'

मेरे नीग्रो मित्र ने यह बात विशेष जोर देकर कही कि अमेरिका मे नीग्रो शब्द-बहुत आम हो गया है और, इसे अमेरिका की समस्त नीग्रो जाति ने अपना लिया है। उसने यह भी बताया कि आज भी नीग्रो के प्रति घृणा दिखाते हुए 'निगर' शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसे कोई भी भला नीग्रो पसन्द नहीं कर सकता। चौड़ी नाक और घु घराले बाल, जितना काला रग उतने ही सफेद दाँत—नीग्रो की यह विशेषताएँ मै अपने मित्र मे देख रहा था। पर इसका यह अर्थ बिलकुल नहीं था कि वह किसी भी सभ्य जाति के व्यक्ति से पीछे था, या यह कि किसी को उसे 'निगर' कह कर पुकारने का अधिकार मिल सकता था। यह ठीक था कि छठवी शती से लेकर सोलहवीं शती तक रोमन और अरब विजेताओ ने अमेरिका के अनेक प्रदेशो से लाखों व्यक्तियों को एशिया के बाजारों मे ले जा कर गुलामो के रूप मे बेच डाला था, और फिर सोलहवीं शती के पश्चात यूरोपीय साम्राज्यवादियो ने अफ्रीका के पूर्वी और पश्चिमी किनारों के प्रदर्शनो से नीग्रो जाति के करोड़ो नर-नारियो को पकड़ कर अमेरिका के शहरो मे ले जा कर बेचने का धन्धा अपना लिया था। कहते है इस प्रकार दस करोड नीग्रो अपनी जन्मभूमि से अलग किये गये थे, यद्यपि उनमे से ४ करोड़ व्यक्ति ही अमेरिका पहुँच पाये थे, और बाकी ६ करोड़ नीग्रो बीमारी अथवा अत्याचारो के कारण रास्ते ही मे चल बसे थे। किस प्रकार पूरे डेढ़ सौ वर्षों तक यूरोपीय साम्राज्यवादी उद्योगवाद के महल की नींव मे करोड़ों नीग्रो नर-नारियों की हड्डियाँ डाली गई, इस सम्बन्ध मे मेरे मित्र ने भरपूर चर्चा की। उसने बताया कि नीग्रो सदैव इस असह्य हीनता का डट कर मुकाबला करते रहे। उसने

यह भी बताया कि किस प्रकार पहली जनवरी, १८६३ का वह शुभ दिन आया जब अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन ने समस्त अमेरिका से गुलामो की शर्मनाक प्रथा के अन्त की जोरदार घोषणा की, किस प्रकार ६ अप्रैल, १८६५ को गुलामी के समर्थक जनरल ली ने जनरल ग्रएट को आत्मसमर्पण किया था।

गुलामी से मुक्त होने पर शुरू-शुरू मे नीग्रो को अनेक कष्ट हुए। गुलामी से मुक्त हो कर भी सचमुच उसे वह स्वतन्त्रता नहीं मिली थी जिस पर उसे गर्व हो सकता। उस युग की एक नीग्रो कविता मे इसी का चित्र खीचा गया है—

'जब मुझे स्वतन्त्रता मिली
मालिक से, खेत से, कारखाने से, गुलामी से
स्वतन्त्रता मिली, सुनहरी स्वतन्त्रता मिली
सुन्दर स्वतन्त्रता मिली
पर एक कठिन समस्या ही तो थी—
जाऊँ तो कहाँ जाऊँ ?
पास एक धेला तक नहीं,
कैसे स्वतन्त्र बनूँ ?
न बैठने को ठौर,
न पैर मे जूता,
न खाने को कौर,
हाय, हतभागे !
क्या गुलामी ही है तेरा धर्म ?'

एक और स्थान पर नीग्रो कवि कह उठा, 'छोटी मक्खियाँ रस जुटाती है, बडी मक्खियाँ खाती हैं मधुर मधु !'

मेरे मित्र ने यह भी बताया कि अमेरिका के नीग्रो सभी ईसाई धर्म स्वीकार कर चुके है। वे कैसे ईसाई हो गये, शायद इसकी उन्हे कुछ खबर नहीं। यह कहा जा सकता है कि वे फुरसत

के क्षणों मे नाच गान मे मस्त रहे और नाचते-गाते ही वे एक प्रकार की अचेतन अवस्था मे ईसाई मिशनरियो के जाल मे फंसते चले गये। और आज यह हाल है कि नीग्रो कवि ईसाई धर्म की आलोचना करने से भी संकोच नही करता—

'गोरे मारते है हटर,
चलाते है बन्दूक,
धरती है केवल गोरो के लिए,
अभागे नीग्रो का स्थान है बादलो मे,
नीग्रो धर्म पर चलता है।'
बाइबल का पाठ पढ़ता है, प्रार्थना करता है।'

एक और नीग्रो कविता मे कवि बड़े जोरदार शब्दों मे समस्त नीग्रो जाति को एक पंक्ति मे खडे होने का आदेश देता है-

'तुम भी वीर हो, नीग्रो!
तुम्हारी रगो मे भी गरम लहू बहता है,
देखो वह गोरा आता है,
उसके हाथ मे पिस्तौल है, छुरा है,
देखो डरो मत
नीग्रो के साथ नीग्रो खडा हो जाय,
कन्धे-से-कन्धा मिला कर
तुम भागो मत, नीग्रो!
इसी से तो प्रोत्साहित होते है ये अत्याचारी!'

इन कविताओं पर हम देर तक विचार करते रहे। एक नीग्रो कविता की यह टुकडी मुझे बेहद पसन्द आई—'डालर की नजर मे मै कब का मौत के घाट उतर चुका हूॅ।'

उत्तर और दक्षिण में नीग्रो की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए एक बार अमेरिका की सुप्रसिद्ध लेखिका पर्लबक ने लिखा था—'यहाॅ उत्तर मे नीग्रो की सुरक्षा और उन्नति के काफी

साधन और अवसर है । कम-से-कम वह यहां लिंचिंग (गोरों द्वारा ज़िन्दा जला दिया जाना या मार डाला जाना) से तो सुरक्षित है । यह सही है कि यहां भी वह शहर के अच्छे हिस्सों मे मकान नहीं खरीद सकता, चाहे वह कितना ही पढ़ा-लिखा क्यो न हो और चाहे उसकी हैसियत कैसी ही क्यो न हो । बहुत से ऐसे होटल और रेस्तरां और सार्वजनिक स्थान है जहां उसका प्रवेश निषिद्ध है । पर सार्वजनिक स्कूल और सरकारी विश्व-विद्यालय उसके लिए खुले हुए है । वह सार्वजनिक मोटरों, ट्रामो और बसों मे जिस जगह चाहे बैठ सकता है और किराया देकर वह रेल मे चाहे जिस क्लास मे यात्रा कर सकता है । पर आर्थिक-दृष्टि से वह पक्षपात का शिकार बताया जाता है । उसके मुकाबले मे गोरो को नौकरी दी जाती है । हॉ, राजनीतिक क्षेत्र मे उसे अपनी इच्छा के अनुसार वोट देने का पूरा अधिकार है ।'

आज जब भारत मे हरिजनों के प्रति एकता का व्यवहार किया जाने लगा है, जी चाहता है कि अमेरिका मे भी नीग्रो के प्रति हर कही समानता का व्यवहार आरम्भ हो, जिसका कि किसी भी जनतन्त्र मे उसे अधिकार होना ही चाहिए । मै सदैव इस प्रतीक्षा मे रहता हूं कि वह नीग्रो सैनिक, जो दिल्ली मे कनाट प्लेस की बैंच पर बैठा मुझे मिल गया था, मुझे अपने पत्र मे यह सुखद समाचार लिख भेजे कि आज से नीग्रो भी एक स्वतन्त्र देश का नागरिक है—प्रत्येक दिशा मे, प्रत्येक अवस्था मे ।
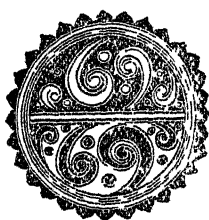
स्वागतम्, ओ नये युग !

जब गत वर्ष पन्द्रह अगस्त के दिन भारत ने दो सौ वर्षों की गुलामी के पश्चात् पहली बार आजादी की सांस ली, राजधानी मे विशेष रूप से जगमगाहट की गई थी, लाल किले पर तिरगा राष्ट्रीय झण्डा फहराया गया था, और जो खुशियां उस समय मनाई गई थी, उनके दृश्य देश के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगे। स्वाधीन देशो की ओर से भारत की राष्ट्रीय सरकार को बधाई के जो सदेश प्राप्त हुए थे उनकी याद अभी ताजा है। 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के नारे आखिर फलीभूत हुए, और अनेक देशों ने यही कहा कि संसार के इतिहास मे इस प्रकार की क्रांति, जो रक्त के छींटों से एकदम अछूती है, वस्तुत' एक अद्वितीय वस्तु है। इसके लिए राष्ट्रपिता गांधीजी को ही सब से अधिक श्रेय मिलना चाहिए, यह बात संसार के प्रत्येक देश ने मुक्तकंठ से स्वीकार की थी।

पर ज्यों ही स्वतन्त्रता का सूर्य उदय हुआ और स्वतन्त्रता की योजना के अनुसार देश का विभाजन हो गया, देश

हुए कहता है, 'शायद यह मुसीबत हम पर इसलिए पड़ी कि अभी तक हमने देश का पूरी तरह साथ नहीं दिया था।' कोई कहता है, 'अबके तो दिल नहीं उछल रहा, अगले वर्ष इस पर्व पर शायद हम भी खुशी से उछल सकेंगे।'

प्रजातन्त्र का मूलाधार है व्यक्ति—जैसे ऊंचाई पर हवा मे फहराता हुआ राष्ट्रीय झण्डा भी आज यही घोषणा कर रहा हो। जिन्हे आज भी पेट भर रोटी नहीं मिल रही वे निराश है, जिन्हे आज तन ढकने योग्य वस्त्र नही मिल रहा, उनके चेहरे आज भी उदास हैं। वे भी स्वतन्त्रता का स्वागत करना चाहते है। पर इससे पूर्व कि वे राष्ट्र-पर्व मे सम्मिलित हो वे पूछना चाहते है कि स्वतन्त्रता तो आई, हमारे लिए क्या लाई। खैर, अवसरवादी महत्त्वाकांक्षी तो शायद प्रत्येक युग मे रहे होंगे और आज भी उनकी कमी नही। वे समझते है कि स्वतन्त्रता के इजारेदार वही है।

अब जन-जन के रहन-सहन का स्तर ऊचा उठेगा—जैसे राष्ट्रीय झण्डा आज यही घोषणा कर रहा हो। खूब उत्पादन बढ़ाओ और जो कुछ भी पैदा हो उसे समुचित रूप से वितरित करो—झण्डे की फरफराहट मे जैसे आज यही आदेश प्रतिध्वनित हो रहा हो।

राष्ट्रपति ने इन्ही दिनो जो वक्तव्य दिया था उसमे भी नये युग की आवश्यकताओं को भुलाया नही गया—'कांग्रेसियो को याद रखना चाहिए कि विदेशी सत्ता से स्वतन्त्र होने का कार्य यद्यपि सम्पन्न हो गया है, तथापि अन्य कई पेचीदा समस्याओ को सुलझा कर देश और देशवासियों को अधिक सुखी बनाने का इससे भी बडा कार्य अभी बाकी है। इस गठनमूलक कार्य के लिए लगन और ऊची

भावना की आवश्यकता है। अभी भी हमे गरीबी, बीमारी और निरक्षता का अंत करना है। वह समाज व्यवस्था कायम करनी है, जिस मे सभी को सुख-सुविधा प्राप्त हो.. यह सब और कई तरह के जो काम अभी बाकी हैं, उन्हे करने के लिए हममे पिछले सघर्ष से भी अधिक दृढ़ निश्चय और त्याग की भावना की आवश्यकता है।'

राष्ट्रीय झण्डा बराबर फहरा रहा है। जैसे वह कह रहा हो कि सब ठीक हो जायगा। कहाँ है आज लेखक और कलाकार? जैसे झण्डे की फरफराहट मे यह प्रश्न बार-बार प्रतिध्वनित हो उठता हो।

नये युग का स्वागत तो होना ही चाहिए। आज इस बात की भी आवश्यकता है कि देश के अतीत से भी प्रेरणा प्राप्त की जाय। आँखे भविष्य पर जमी रहे, मन मे देश के स्वर्णयुग का ध्यान रहे। वह स्वर्णयुग कौनसा था? ईसवी चौथी-पांचवीं शताब्दि का युग, जब समुद्रगुप्त, कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त जैसे प्रतापी सम्राटों ने समस्त देश को एकता के सूत्र मे बाँधकर और देश-विदेश मे व्यपार की बहुमुखी योजनाएं प्रस्तुत करते हुए इस धरती पर स्वर्ग की अपार-राशि भर दी थी, आज हमे सबसे अधिक प्रेरणा दे सकता है।

यही वह युग था जब महाकवि कालिदास मुक्त-कंठ से कह उठे थे कि देश मे गुप्तों की स्वर्ण-मुद्राओं को देखकर ऐसा लगता है जैसे कुबेर के कोष से स्वर्णवृष्टि हुई हो। केवल महलों मे ही लक्ष्मी का निवास नहीं था, उसके चरण प्राय. सुदूर, ग्रामो की ओर भी उठ जाते थे, गुप्तकाल मे ही संगीत, काव्य, शिल्प-कला और चित्रकला की अभूतपर्व उन्नति हुई थी। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, देश का सिर उस युग मे नये-नये मन्दिरों का निर्माण होता देखकर गर्व से ऊँचा उठ गया था, अनेक

गुफाये और अनेक विहार भी प्रस्तुत किये गए थे, जिनके अवशेष आज भी मौजूद है। उस युग की मूर्त्तिया आज भी पुकार-पुकार कर कह रही है कि देश की सस्कृति मे सुन्दरता के प्रति विशेष अनुराग उपस्थित रहता था। अनेक मूर्त्तियो मे स्त्रियों के केश-विन्यास के ढंग देख कर तो आधुनिक स्त्री भी बहुत-कुछ सीख सकता है। 'कुमार-सम्भव' मे कालिदास ने विशेष रूप से उल्लेख किया है कि उस युग की जनता रूप तो चाहती थी, पर वह रूप पापवृत्ति के लिए प्रयोग मे नही लाया जाता था। पार्वती, इन्दुमती और यक्षिणी का रूप स्त्री-सौंदर्य की उच्चतम परम्परा का प्रतीक है। उस युग का एक और मन्त्र भी हमारे सम्मुख रहना चाहिए—'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्।' जो पुरातन था वह केवल पुरातन होने की हैसियत से ही अच्छा क्यों मान लिया जाय, क्योंकि सम्भव है नया उससे कहीं बढ़कर सिद्ध हो जाय। यही कारण था कि उस युग के कलाकारो ने अभूतपूर्व रचनाओ द्वारा देश के गौरव मे वृद्धि कर दिखाई।

राष्ट्रीय झण्डा फहरा रहा है। जैसे वह पूछ रहा है कि आज इस देश के लेखक और कलाकार क्या सोच रहे है। मेरा ध्यान फिर से गुप्तकालीन कला की ओर आकर्षित हो जाता है। श्री वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं, 'मथुरा गुप्तों की शिल्प-कला का बहुत प्रसिद्ध केन्द्र था। मथुरा से प्राप्त पत्थर की खड़ी हुई बुद्ध प्रतिमा भारत की सर्वोत्तम मूर्त्तियों मे गिनी जाती है, मूर्त्ति सादा है, पर सौंदर्य का अद्भुत उदाहरण है। झीने वस्त्रों के भीतर से झांकता हुआ शरीर चित्रित करने मे शिल्पी ने कमाल कर दिया है। चाहे किसी भी मूल्य पर हमे वे चीजे वापस मिले, हमे इसके

लिए तैयार रहना चाहिये।'

राष्ट्रीय झंडे की फरफर क्या कह रही है ? शायद वह कलाकार से कह रही है कि वह इस युग के अनुरूप राष्ट्रीयता की मूर्त्ति प्रस्तुत करे। इस मूर्त्ति का स्थान तो जन-जन का हृदय ही हो सकता है। जिस युग-पुरुष ने गुलामी से दबे-पिसे देश को फिर से स्वतन्त्रता की भाषा प्रदान की और उसे परतन्त्रता के चंगुलसे छुडाकर फिर से सिर ऊंचा करने योग्य बनाया, उसकी मूर्त्ति पर कलाकारों की सामूहिक प्रतिभा केन्द्रित होनी चाहिए थी, जैसा कि वस्तुत गुप्तकाल मे भी हुआ होगा।

नये युग का स्वागत करते हुए हमारा ध्यान उस कला-सम्पत्ति की ओर अवश्य जाना चाहिए जो समय-समय पर हमारी परतन्त्रता के कारण विदेशी सग्रहालयो मे पहुचाई जाती रही है। क्या हम कोई ऐसा उपाय नहीं कर सकते कि यह कला-सम्पत्ति हमारे देश मे लौट आए ? तांबे की वह आदमकद बुद्ध-मूर्त्ति, जो भागलपुर जिले के सुलतानगज नामक स्थान से प्राप्त हुई थी, कब तक कनिंघम के अजायबघर मे पड़ी रहेगी ? यह तो केवल एक उदाहरण मात्र है। स्वतन्त्र भारत का ध्यान अपनी इस कला-सम्पत्ति की ओर अवश्य जाना चाहिए। भारत से अनेक कला-वस्तुएं स्व० आनन्दकुमार शास्त्री द्वारा अमेरिका मे बोस्टन के अजायबघर मे पहुच गईं। वे सब कब दोबारा जन्मभूमि को लौटेंगी ? लन्दन के संग्रहालय से भी भारत की कला-सम्पत्ति वापस आनी चाहिए।

राष्ट्रभाषा का प्रश्न भी अब तुरन्त निपटा लेना चाहिए। अगरेजी की गुलामी का तो अब प्रश्न ही नहीं उठता। यदि हम शिक्षा का सार्वजनिक प्रसार चाहते है, तो हमे राष्ट्रभाषा की ओर अग्रसर होना होगा। बिहार, युक्तप्रांत और मध्यप्रांत ने हिन्दी को राजभाषा मान लिया है।

पूर्वी पजाब मे भी हिन्दी राजभाषा के रूप मे अपनाई जा चुकी है। मालव सघ, राजस्थान सघ और हिमाचल प्रदेश आदि देश के अनेक विशाल भागो मे भी अब हिन्दी का सिक्का चलेगा। समस्त देश की आँखे इस समय केन्द्र की ओर देख रही है। विधान परिषद् मे अब राष्ट्रभाषा का प्रश्न अनेक दिनो तक खटाई मे नही पड़ा रह सकता।

प्रान्तीय भाषाओ को हिन्दी की शक्ति से अपने-अपने गौरव मे वृद्धि करने के अवसर प्राप्त होगे, यह तो प्रत्यक्ष है।

राष्ट्रीय झण्डा फहरा रहा है। जैसे वह पूछ रहा हो कि देश अब किस गति से आगे बढ़ेगा, जैसे वह कह रहा हो वह अमर है, क्योंकि उसकी वाणी युग-युग तक देशवासियो के हृदय और मस्तिष्क मे प्रतिध्वनित होती रहेगी। बापू की मूर्त्ति एक आदम-कद—मूर्त्ति मेरी आंखों मे उपजी है। एक अग्रसर होते मानव की मूर्त्ति, एक पग उठा हुआ, एक पग उठने को तैयार। यही मूर्त्ति नये युग की प्रतीक है। स्वागतम्, ओ नये युग!

चन्दनबाड़ी का कवि

उस दिन सुदर्शन-प्रेस अमृतसर मे एक वयोवृद्ध सज्जन से भेंट हुई। वे ऐसे प्रेम से मिले, जैसे कोई अपने चिर-परिचित आत्मीय से मिलता है। बड़ी मजेदार बाते सुनने को मिलीं। उनकी एक-एक सूक्ति काव्य-रस से ओतप्रोत थी। बातचीत मे ऐसा जान पड़ता था कि उनकी चिर-संचित अनुभूतियाँ और सुचिन्तित विचार धीर-गम्भीर गति तथा श्रुति-मधुर स्वर से एक-एक करके बाहर आ रहे हों। जीवन के सायं-काल मे भी वे अभी तक युवक ही प्रतीत हो रहे थे। यही सौम्य-मूर्त्ति सज्जन पंजाबी भाषा के प्रसिद्ध कवि श्रीधनीराम 'चातृक' है। 'चातृक' महोदय पंजाबी काव्य-गगन के चमकते हुए सितारे है। उनकी प्रत्येक कृति अपनी नैसर्गिक ज्योति से जनता के मानस-जगत को आलोकित कर रही है। उन्हे काव्य-धन प्रदान करते हुए विधाता ने उदारता से काम लिया है।

अक्तूबर सन् १६७६ मे 'चातृक' महोदय शिशु के रूप मे मॉ की गोद मे आये। उस समय किसे खबर थी कि यह शिशु अपनी आयु के बीसवे वर्ष मे ही कविता-देवीका कृपा-पात्र बनेगा

और अपनी रसमय कृतियों से अपना नाम अमर करेगा।

शुरू मे उनकी कविताएँ अमृतसर से प्रकाशित होने वाले 'खालसा-समाचार' मे निकला करती थीं। उनकी अलौकिक प्रतिभा पर मुग्ध होकर 'खालसा ट्रैक्ट सोसाइटी' ने उनसे कई एक ट्रैक्ट लिखा कर प्रकाशित किये। इससे वे और भी लोकप्रिय बन गये। काव्य-सम्बन्धी धारणाओं के निर्णय मे उन्हे अधिक सहायता सुप्रसिद्ध पजाबी कवि भाई वीरसिंह से प्राप्त हुई। अपने गुरुदेव के प्रति 'चातृक' के हृदय मे आज भी असीम भक्ति तथा श्रद्धा विद्यमान है।

सन् १९०६ मे उनके 'भर्तृहरि' तथा 'नल-दमयन्ती' नामक खण्ड-काव्य प्रकाशित हुए। इसके पश्चात् सन् १९०८ मे मॉडल प्रेस लाहौर के मालिक भाई अमरसिंह ने उच्चकोटि की कविताओं का हत् सग्रह 'फुल्लां दी टोकरी' (फूलो की टोकरी) नाम से प्रकाशित किया। इसमे अधिकतर कविताएँ 'चातृक' की ही थी। यह सकलन अब भी पजाब-यूनिवर्सिटी की एफ० ए० की परीक्षा की पाठ्यपुस्तकों मे नियत है।

इस परिवर्तनशील जगत मे परिस्थितियों की लहरे हमे कहीं-से-कही ले जाती है। इन्ही लहरो के प्रभाव से वे सन् १९११ मे अमृतसर छोडकर बम्बई चले गये। इस प्रवास मे उन्हे पूरे तीन वर्ष लग गये। अमृतसर लौट कर भी उनका भार हलका न हुआ। सिर पर कड़ी जिम्मेदारियाँ और सम्मुख आर्थिक कठिनाइयाँ थी। इस प्रकार सन् १९११–१८ तक वे विकट परिस्थितियों से लोहा लेते रहे, इसीलिए इन दिनो वे अधिक नहीं लिख पाये। मुश्किल से आठ-दस छोटी छोटी रचनाएँ की होंगी।

समय ने पलटा खाया। साहित्यिक जाग्रति के दिन आये, और 'चातृक' नवीन स्फूर्त्ति और उत्साह के साथ फिर

काव्य-क्षेत्र मे उतरे। उनकी कविताएँ पंजाबी भाषा के कितने ही मासिक और साप्ताहिक पत्रों मे प्रकाशित होने लगी। इन पत्रों मे 'प्रीतम', 'फुलवाड़ी', 'मौजी' तथा 'कवि' के नाम उल्लेखनीय है। आखिर सफलता की देवी उन पर मुग्ध हुई, और पंजाबी साहित्य-ससार मे उनकी रचनाएँ बडे चाव और आदर से पढी और सुनी जाने लगी। उनकी मजी हुई भाषा तथा विचारों की सादगी जनता को बहुत ही पसन्द आई।

सितम्बर सन् १६२६ मे अमृतसर मे 'पजाबी सभा' नामक साहित्यिक सस्था की नीव पडी। इसने अपने प्रधान का पद 'चातृक' को ही प्रदान कर उन्हे सम्मानित किया।

अब उनका मित्रमण्डल उनकी चुनी हुई रचनाओ का एक बृहत् सकलन देखने के लिए व्याकुल हो उठी। अत' दिसम्बर सन १६३१ मे उन्होंने इस मालाका प्रथम पुष्प प्रकाशित किया—सुन्दर, नयनाभिराम और खुशबूदार। नाम भी बहुत सुन्दर रखा - 'चन्दन-बाडी'। 'पजाब टेक्स्ट बुक कमेटी' ने 'चन्दन-बाडी' के कवि को ५५०) पुरस्कार देकर इस रचना के प्रति सम्मान प्रदर्शित किया। 'चन्दन-बाडी' क्या है, मानव-हृदय के सरस चित्रो की एक खूबसूरत चित्रावली है। इस मे सभी रग है—सभी रस है। इस 'चन्दन-बाड़ी' मे 'कवि-रचना' शीर्षक कविता मे 'चातृक' ने कवि की उत्पत्ति का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। वे कहते है—

'ब्रह्मा ने फूल से सुगन्ध ली और मधु से मिठास, मक्खन से कोमलता ली और पारे से तड़प ओस से शीतलता ली और हिम से निर्मलता, तारों से चमक ली और दामिनी से प्रकाश, सूर्य से गर्मी ली और चन्द्रमा से रस-राशि—इन सब वस्तुओं को परस्पर मिलाकर उसने एकरूप तथा एकरस कर दिया।

फिर इस मिश्रित मसाले से ब्रह्मा ने एक पुतला बनाया,

उसे प्रकाश का लिबास पहनाया, और उस का नाम 'कवि' रख कर उस मे प्रेमरूपी जीवन का सचार कर दिया।'

आगे चल कर कवि के भाग्य की बात लिखते है—

'विधाता कवि का भाग्य लिखने लगे, तो उन्होंने उलटी लेखनी चला दी। अतृप्त अभिलाषा, असफलता, करुण वेदना, वियोग की चुभती हुई पीड़ा—यह थी कवि की भाग्य-राशि।'

इसी प्रकार एक स्थल पर 'कवि' को सम्बोधन करके 'चातृक' कहते है—

'रे कवि! तू उन जहाजों का मल्लाह है, जो कौमो का बेड़ा पार लगाया करते है।

रे कवि! तू उस शीतल वासन्ती वायु का झोंका है, जो देश-प्रेम के कानन को प्रस्फुटित किया करती है।

रे कवि! तू वह अमृत है, जो प्राणहीन आत्माओं मे नव-जीवन का सचार किया करना है।'

बुलबुले की नश्वरता पर अनेकों कवियों ने कविताएँ लिखी है। 'चातृक' ने भी इस विषय पर अपनी लेखनी उठाई है। वे बुलबुले को सम्बोधन करके पूछते हैं—

'रे बुलबुले! जरा बैठ कर सोच तो सही, कही तेरे इस झूलते हुए महल की आधार-शिला ढोल की पोल पर तो स्थित नहीं है।'

इस पर बुलबुला उत्तर देता है—

'अग्गो बुलबुले ने एह जवाब दित्ता,
तूँ घबरा न ऐडा अनजान नहीं मैं,
सिर ते बन्ह खफ्फन घरों निकलया सा,
लम्मी उमर ते वेचदा जान नहीं मैं।
आये हवा भुक्खो, डेरा कूच कीता,
घड़ियाँ पलां तों बहुत महमान नहीं मैं।

पक्के पैतड़े बन्ह के बहिरा वाला,
हिरसा बिच्च गलतान इनसान नहीं मै ।
मैं ताँ हस्स के नूर बिच्च नूर बनना,
तूँ होरथे रागणो गा जाके ।
ऐशाँ बिच्च जो रब्ब भुलाई बैठे,
मौत उन्हाँ नूँ याद करवा जाके ।'

बुलबुला कहने लगा, 'हे कवि ! तू घबरा मत , मै इतना अनजान नहीं हूँ । मै तो सर पर कफन बाँध कर घर से निकला था , मै चिर-आयु का इच्छुक नहीं हूँ ।

इस संसार मे आ कर जरा हवा खाई और बस डेरा कूच कर दिया । मै एक-आध घडी या पल से अधिक समय का अतिथि नहीं हूँ ।

मै तो बुलबुला हूँ , लोभी मनुष्य की भाँति मै ससार मे आकर सदैव के लिए ससार मे ही नहीं रहना चाहता ।

मुझे तो हँसते हुए अनन्त मे घुल-मिल जाना है , अपनी यह रागिनी तू किसो अन्य स्थान पर जाकर अलाप ।

जा, जाकर मृत्यु की याद उन्हे करा, जो भोग-विलास मे लिप्त हो कर ईश्वर तक को भुलाये बैठ है ।'

काश्मीर-प्रदेश मे चिनार के वृक्ष बहुतायत से होते है। चिनार एक अत्यन्त विशालकाय वृक्ष है । उस की उम्र भी काफी होती है । चिनार के वृक्ष काश्मीर की स्वर्गीय शोभा के एक अंग है । राज्य की ओर से उनके काटने की एकदम मनाही है इस लिए वहाँ बूढ़े-बूढ़े चिनार भी मिलते है। कविने उन का सौंदर्य देखा, और वह उन की मनोहरता और गुणो पर मुग्ध हो गया । अत. वह चिनार को सम्बोधन करके कहता है—

'सुरगी रुक्ख, बजुरग-चिनारा ! रूज जलाली पाया,
फूले फूले पत्र तेरे, ठण्डी सगणो छाया ।

कद उचेरा, मुड्ढ मुटेरा, लम्मा चोडा घेरा,
पिप्पल तेरा पाणी भरदा, बाहड़ नूँ शरमाया।
सै वरेहाँ तों ज़ोहद कमावे खड़ा-खड़ा इकटगा,
धुप्प सहारें अपने उत्ते, होराँ नूँ कर साया।
केई पूर लघाये हेठों डिट्ठे कई ज़माने,
परउपकार तेरे ने, बाबा ! मेरा मन भरमाया।'

'हे स्वर्गीय वृक्ष ! तुम एक बुजुर्ग हो। कितना दिव्य सौंदर्य पाया है तुम ने ! कैसे नर्म-नर्म है तुम्हारे पत्ते और कैसी घनी शीतल है तुम्हारी छाया।

तुम्हारा कद ऊँचा है और तना खूब मोटा। कितना लम्बा-चौड़ा है तुम्हारा घेरा !

पीपल तुम्हारे सामने पानी भरता है, और बट तुम्हारे आगे आने से शरमाता है।

सौ वर्षों से तुम एक टाँग के बल खड़े-खड़े तपस्या कर रहे हो। स्वय धूप सहते हो और दूसरों को छाया प्रदान करते हो।

कितने ही जनसमूह तुम्हारे नीचे से गुजरे है, और तुम ने कितने ही ज़माने देखे है।

बाबा ! तुम्हारे परोपकार ने मेरा मन मोह लिया है।'

फिर कवि चिनार से पजाब मे चलने की प्रार्थना करता है—

'चल्लो जे पजाबे बन्ने दुनियाँ नवीं विखावाँ,
मेंदाना विच्च धुप्पा ताईं धुप्पां बत सताया।'

'हे चिनार ! यदि तुम पजाब चले चलो, तो तुम्हे एक नई ही दुनिया दिखाऊँ; वहाँ जनसाधारण को गरमी ने सता रखा है; चलो, वहाँ चल कर उन का उपकार करो।'

फिर कवि स्वयं ही चिनार की ओर से उत्तर देता है—

'चल्लण नूँ सौ वारी चल्लणाएँ, बीबिया बरखुरदारा !
पर पंजाबे अन्दर मेरा होणा नही गुजारा।

इन्हाँ उचाइयाँ दे विच्च तैनूँ बरकत मेरी जाये,
रत्ता कु हेठ उतरयाँ इस ने करना तुरत किनारा।'

'चलने को तो मै सौ बार चलता हू, पर हे मेरे लाडले बरखुरदार! पजाब मे मेरा गुजारा न हो सकेगा। इन ऊचाइयो के ऊपर तुझे मेरा जो सौंदर्य दिखाई दे रहा है, ज़रा-सा नीचे उतरते ही, वह किनारा कर लेगा।'

किसी-किसी स्थल पर 'चातृक' की सूझ बहुत ऊँची उठ गई है। ऑखों पर ज़रा 'चातृक' का कमाल देखिये—

'प्रेम का निवास-स्थान स्वर्ग है।

एक दिन प्रेम ससार की सैर करने नीचे उतर आया, और जिस प्रकार ओस वनस्पति के ऊपर मोतियो का रूप धारण कर लेती है, उसी प्रकार प्रेम ने इन दो ऑखों का रूप धारण कर लिया।

कितनी कोमल और सुन्दर है ये दो ऑखे, ये ऑखे नहीं, प्रेम की अवतार है। कितनी चचल है वे, कितनी रसमय, कितनी निर्भय और कितनी स्वतन्त्र!

दिव्य प्रकाश के प्याले पी-पी कर ये ऑखे नशे से चूर हो रही हैं।

ऊँचे झरोखे पर बैठ कर ऑखें राह-चलते पथिकों पर डोरे डाल-डाल कर, अपने तीखे तीरों से, अनेक हृदय बेधती है।

एक दिन उलटी तकदीर लड गई। सामने से सौंदर्य का देवता गुजर रहा था। आंखोने शिकार खेलना चाहा; पर वे स्वय ही अपने शिकार के पजे मे फस गई! बेचारियो के हथियार कसे-के-कसे ही रह गए।

ऑखें बुरी तरह जख्मी हुईं, 'चिल्ला-चिल्ला कर कहने लगीं—'हम इस रगीले बाजार मे लूट ली गई है।'

अपनी 'कबरिस्तान' शीर्षक कविता मे 'चातृक' खूब सफल हुए है। कविता क्या लिखी है, एक तसवीर खींच कर रख दी है। इस कविता का पूर्ण रसास्वादन तो इसके मूल रूप मे ही किया जा सकता है, क्योंकि कितने ही स्थल ऐसे है, जो अनुवाद मे अपना वास्तविक जोर नही दिखा पाते। कविता लम्बी है, इसलिए केवल अनुवाद ही दिया जा रहा है—

'इस शोरगुल से भरी दुनिया मे एक एकान्त बस्ती भी है। खामोशी यहां की आवाज़ और उदासी यहां की रौनक है।

यहाँ न कोई दीपक जलता है, न कोई पतंग ही निछावर होता है, न कोई पुष्प खिलता है, न भ्रमर अपने सगीत से यहां के निवासियो का जी बहलाता है।

कितनी ही शताब्दियों से इकट्ठे रह रहे है इस मूक नगरी के निवासी, पर न उनकी कोई एक भापा है, और न वे अपनी अन्तर्वेदना कहने की चेष्टा ही करते है।

यहां के वासी अपनी अपनी छातियो मे अभिलाषाएँ छिपाए पडे है, और पैर पसारे सो रहे है, जबसे उन्होने इन महलो मे रहना आरम्भ किया है, तबसे आज तक कभी उन्होंने द्वार तक नहीं खोले।

अनेक प्रकार के है यहाँ के रहने वाले। कोई-कोई ऐसी आध्यात्मिक मदिरा का पान किये पड़े है, जिसका नशा अब तक नहीं उतरा। न उन्होने प्याले ही सीधे किये है, और न साकी की ओर ताका ही है।

कोई-कोई ऐसे है, जिनकी शतरंज की बिसाते बिछी ही पड़ी है, उन्होंने उठकर अपना खेल भी खत्म नहीं किया, कितनों ही को अपनी नई-नवेली दुलहिनो की बिछाई हुई पुष्प-शय्याओं

पर बैठने तक का अवसर नही मिला।

कोई बहरामपुर के महलो का राजदुलारा है, तो कोई जमशेदनगर के सौभाग्याकाश का टूटा हुआ सितारा, कोई विलास-कानन की कोमल कली है, जो फूल तथा दीपक के दर्शनो के लिए तरस रही है, कोई अपने प्रीतम की प्रतीक्षा मे बैठी हुई दीपशिखा की-सी वधू है, जो पतगो से आख बचाने का यत्न कर रही है।

हे इस शात नगरी के निवासियो! जरा आंख तो खोलो, करवट तो बदलो।

किसलिए है यह लम्बी नाराजगी? अब जरा मुह तो खोलो। तुम लोग किसकी आखों के तारे हो? किस माँ के लाल हो? किन देशो के राजकुमार हो? किन अप्सराओ की पुत्रियो के पति हो?

कितने कोमल थे जीवनकालमे तुम्हारे शरीर? कितना इत्र-फुलेल तुम अपने शरीर पर लगाते थे?

कैसा शृगार करते थे तुम, और किस हस-गति से चला करते थे? किस रणस्थल मे दिखाये थे तुमने अपनी तलवारो के जौहर? कितना मान और गौरव पाया था तुमने? हाँ, यह भी बताओ कि तुमने धन कितना संग्रह किया था? कितनी धरती पर कब्जा किया था?

तुममे से कौन-कौन से बडे-बडे सम्राट् थे, और कौन कौन थे उन सम्राटों के दरबारी? हाथी पर कौन चढ़ा करता था, और कौन द्वार-द्वार भिक्षा मांगता फिरता था? फूलो की सेजो पर कौन सोया करता था, और कौन धूल मे लोटता था? कौन मजदूरी किया करता था, और किसके सिर पर छत्र झूलता था?

न-जाने इस उड़ती हुई धूल मे किस-किस के मस्तको

के परमाणु मिले हुए है ? सम्राट और कङ्काल एक साथ मिल कर आकाश मे भटकते फिरते हैं। कभी का नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है इतिहास का वह पन्ना, जो हमे उनके वश से परिचित करा सके।

आज जो छत्रपति इस मिट्टी मे मिला पडा है, किसी दिन वही महलो का वासी था।

कबरो की मिट्टी बन गई है (महाप्रतापी सम्राट्) 'खुसरो' की खोपडी। कुम्हार ने उसे अपने चाकपर चढ़ाने के लिए पानी डाल-डालकर गूथा है। वह झगडालू जिह्वा, जो ललकार कर कुम्हार को ऐसा करने से रोक सके, कभी की टल चुकी है, अब कहाँ बाकी है वह भुजाएं, जो अपनी तलवार के जोर से ही कुम्हार के हाथ कलम कर लेती ?

यदि कुम्हार चाहेगा,तो इस मिट्टी से दीपक गढ़कर उसे फिर एक बार कबरिस्तानमे किसी कब्र पर रख देगा, या प्याला बना कर उसका स्पर्श प्रेमिकाओ के होठों से करा देगा।

बेकदरोंके पजेमे फस कर भी कबरिस्तानका एक भी निवासी फरियाद तक नहीं करता। प्रकृति देवोके परिवर्तनो को यहा के निवासी चुपचाप देखते रहते है।

आ रे मेरे मन! हम भी इस कबरिस्तान मे ही पड़े रहे। फिर पीछे जाकर हमे करना ही क्या है ? दुनिया का जीवन है केवल दो-चार दिन का, अन्तमे तो यहीं आना है।

सांसारिक जीवन मे लालच के दांव-पेच के सिवा रखा ही क्या है ? पर इस स्वर्गमें नाममात्र भी कष्ट नहीं है। यहाँका नशा एक बार चढ़कर फिर उतरता ही नही।"

कबरिस्तान के साथ वार्त्तालाप करते-करते कवि की वाणी मे आत्मीयता आ गई है। आखिर वह कबरिस्तान मे ही रह जाना चाहता है, और वापस लौटने की बात उसे पसन्द नहीं आती।

इस कविता को देख कर स्वर्गीय भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकी 'स्मशान' शोर्षक कविता याद आ जाती है।

× × ×

'सुरगी जीऊड़े' शोर्षक कविता मे एक ग़रीब मज़दूर के घरेलू जोवन का चित्र अकित किया गया है, जिसे पढ़कर पाठक का हृदय अनायास ही मजदूर के प्रति सहानुभूतिपूर्ण हो उठता है। कवि स्वयं मज़दूर की दोन-कुटी मे अमीरों से कहीं अधिक शान्तिमय जीवन पाकर मोहित हो गया है। कविता का अर्थ है—

'पर्वत के पाद-तल मे थोड़ी दूर तक समतल भूमि चली गई है। एक ओर छोटे-छोटे कंकरोंके ढेर हैं, और दूसरी ओर श्यामल घास का फर्श बिछा हुआ है।

यहीं एक झोंपडी है। वर्षा ने इसे काफो से ज्यादा तोड़-फोड़ रखा है। उसका छप्पर डोल रहा है, और चारों दीवारे तड़की हुई हैं।

एक मज़दूर है इस झोंपड़ी का निवासी। कङ्गाली है इस मज़दूर की माया, मज़दूरी इसका सहारा है, और सन्तोष उसकी पूंजी।

दिन-भर बेचारा परिश्रम की चक्की पीसता है और अपनी हड्डियां पीस-पीस कर खाता है। प्रभात होते ही वह अपने काम पर निकल पड़ता है, और सायकाल घर लौटता है।'

अब ज़रा मज़दूर की झोंपड़ी का भीतरी दृश्य देखिये—

'दो टूटी-फूटी चारपाइयां हैं। कुछ वस्त्र है, जिनकी आधी आयु शेष हो चुको हैं। मिट्टी के दो प्याले हैं, और मिट्टी ही का एक आटा गूंधने का पात्र है।

खिडकी के समीप ही एक चूल्हा है, जिसमे गॉठों वाली लकड़िया सुलग रही है। चूल्हे पर काली-कलूटी हॉडी मे पालक के पत्ते उबल रहे हैं।

नन्हे बच्चों को लिये हुए एक स्त्री अपनी फटी हुई चादर

की मरम्मत कर रही है।

जब शिशु ऊपर को ओर ताकता है, माता हँसती-हँसती उस की आँखों मे आंखे डाल देती है।

•जब कभी शिशु मुँह बसूरता है, माता के दिलको न-जाने क्या होने लगता है, प्यार की ओस (अश्रुधारा) बहा-बहाकर वह इस चम्पे की कली—शिशु को प्रस्फुटित करती है।'

आगे चलकर कवि मजदूर-पत्नी के वाह्य और आन्तरिक जीवन पर प्रकाश डालता है—

'इस मजदूर-पत्नी के हाथों मे सूई-धागा है, और हृदय मे अपने पति के लिए अपार प्रेम। कितना वास्तविक और चिर-स्थायी है यह प्रेम !

अपने गरीब मजदूर पति की स्मृति मे उसका मन मस्त रहता है, अपनी कुटिया को वह राजमहल से कम नहीं समझती।

सायंकाल होने को आया। मजदूर अब वापस आने को है। कवि इस समय का चित्र खींचते-खींचते थके हुए मजदूर के ध्यान मे इतना निमग्न है कि वह सूर्य की तुलना भी अपने थके हुए मजदूर से ही करता है—

'दिन नीचे उतरा जा रहा है, और सायंकाल अब आया ही चाहता है। सूर्य के सारे-के-सारे तीर समाप्त हो गये है, और अब उसने पश्चिम की ओर मुँह फेर लिया है।

जिस प्रकार थकावट से चकनाचूर होकर मजदूर अपना टाट बिछाता है, उसी प्रकार मानो क्लान्त सूर्य आकाश पर जरी किनारी के थान बिछा रहा है।'

मजदूर घर पहुचता है। बच्चे अपने पिता की गोद में जाने के लिए उत्सुक हो उठते हैं। कवि एक दार्शनिक के रूप में इस दृश्य का अध्ययन करता है और कह उठता है—

'एक ओर माया है और दूसरी ओर तृष्णा, दोनों आँखों

मे आँखें डालकर न-जाने कौन-सी भेद-भरी बातें कर रही हैं।

चुम्बक लोहे से अधिक जल्दबाज हो गया है और भूमि पर पैर नहीं टिकाता। उधर लोहा टाँगे तो सिकोड़ता जाता है, पर बाहे फैलाता जाता है।'

पिता-पुत्र एक दूसरे से चिपट जाते हैं। इसका चित्रण देखिये—

'एक बालक सामने से आकर पिता की छाती को शीतल कर रहा है, और दूसरा पीछे से पीठ से चिपक गया है। इन दोनों पाटों मे मजदूर को सारी-की-सारी चिन्ता पिस जाती है।

झोंपड़ी तक आते-ही-आते मजदूर की सारी थकान हवा हो गई, और प्रेम के झूले मे झूलते ही उसका हृदय मोतियों के फूल की भाँति खिल उठा है।'

आगे चलकर कवि गरीब मजदूर की झोंपड़ी को मन्दिर के रूप मे देखता हुआ उसके दाम्पत्य-जीवन पर प्रकाश डालता है—

'मजदूर-पत्नी इस मन्दिर की मलका (सम्राज्ञी) है, और मजदूर शाह सिकन्दर (सम्राट्), वह मजदूर के लिए अपना जीवन कुरबान किये हुए है, और मजदूर उसकी खातिर मरने तक से नहीं डरता।

मजदूर-पत्नी मोरनी की भाँति आनन्दित हो उठती है, तो मजदूर आनन्द से नाच उठता है। इस प्रकार इस प्रेमी पति पत्नी का घर स्वर्ग का रूप धारण कर लेता है।'

अन्त मे निम्न-लिखित पद्य के साथ कवि चुप हो जाता है—

'मायाधारी जिन शान्तमय जीवनहित घुलदा रैंदा है;
ओह इस कक्खाँ दी कुल्ली विच्च मजदूर पास आ बैंदा है।
शाही महिलां दियाँ सेजांते, जो नींदर तोड़े कसदी है,
ओह रास बहिश्ते आ आके, 'चातृक' दियाँ तलियाँ झसदी है।'

'वह शान्तिमय जीवन, जिसके लिए अमीर सदैव घुलता

रहता है, इस घास-फूस की झोंपडी मे मजदूर के पास आ बैठता है। शाही महलों की सेजो पर जिस निद्रा को चेन नहीं आता, वह इस स्वर्ग मे—मजदूर की झोंपडी मे—आकर कवि 'चातृक' के पैरो के तलुए सहलाती रहती है।'

मजदूर के दु खपूर्ण, पर अमीर से कहीं अधिक शान्तिमय, जीवन का चित्रण करते-करते कवि स्वय मजदूर की स्वर्ग की-सी झोंपड़ी में निवास करने के लिए उत्सुक हो उठा प्रतीत होता है।

'चातृक' साहब ने बहुत-सी 'रुबाइयाँ' भी लिखी है। कहीं-कहीं तो कवि की कलम चूम लेने को दिल चाहता है। यहाँ कुछ रुबाइयो के अनुवाद दिये जाते है—

'शेर ने कहा—रे कुत्ते! तुझ मे जरा भी आत्माभिमान नहीं है। ज्यों-ज्यो लोग तुझे दुत्कारते है, त्यों-त्यो तू उलटा और भी पूछ हिलाता है।

मुझ मे और तुझ मे केवल एक ही अन्तर है कि मै स्वयं मार कर खाता हूँ और तेरी बुद्धि पराये टुकड़े खा-खाकर अपवित्र हो गई है।'

× × ×

'लकड़हारे ने चन्दन पर कुल्हाड़ा चलाया।
कुल्हाड़े की जंग उतर गई और वह सुगन्ध मे बस गया।
चन्दन की उदारता देख कर कवि सोचने लगा—क्या बुरे के साथ नेकी करने से बुरा बुराई से शरमा जाता है?'

× × ×

'ऊँचे टीले ने गड्ढे से पूछा—'भई, तुमने ऐसे कौन से शुभ कर्म किये है कि वर्षा होती तो है मेरे सिरपर, पर जल दौड़ जाता है तुम्हारी ओर?'

× × ×

'किस्मत को क्यों कोसता है, रे भोले !
किस्मत तो पुरुषार्थ की अर्द्धांगिनी है।
साहस है वह पारस पत्थर, जो झट लोहे से सोना बना देता है।
मंगल तथा शनि अपने-अपने घरों मे ही बैठे रहते है, और पुरुषार्थ तथा साहस सभी बिगड़े काम सँवार देते है।'

× × ×

'तलवार ने पूछा—अरे धनुष ! तुमने पिछले जन्म मे ऐसे कौन से पुण्य किये है कि वीर सिपाही मुझे तो अपनी कमर मे लटकाता है और तुझे अपने कन्धों पर चढ़ाता है ?

धनुष ने उत्तर दिया—अरी तलवार ! इसका कारण यह है कि तू अकडी रहती है, और मै समय पर झुक भी जाता हूँ, इसी से तो मुझे इतना सम्मान प्राप्त हुआ है।'

× × ×

'पजाब' को सम्बोधन करते हुए 'चातृक' लिखते है—

'अति प्राचीन है तेरी सभ्यता, रे पंजाब ! और अद्वितीय है तेरा वैभव , तक्षशिला तेरे इतिहास की एक धुँधली-सी निशानी है।

प्रकृतिदेवी ने तुझे ऋषियो और अवतारो का, सूफियो और शहीदों का, भक्तो और वीरो का तथा पतिव्रताओ और सतियों का पालना बनाया था। ··

गुरु अर्जुनदेवजी और गुरु तेगबहादुरजी तुझ पर जान कुर्बान करते रहे।

बाबा नानक और बाबा फरोद तेरे ही शिशु थे , अपनी छाती का दूध पिला-पिलाकर ही तूने उन्हे पाला था !

ससार को प्रकाशित करने के लिए तूने कितने ही दीपक जलाये है।'

यह कविता बहुत लम्बी है, और इसका आनन्द मूल में ही आता है । 'चातृक' की बहुत बड़ी विशेषता यह है कि गम्भीर-से-गम्भीर और गूढ़-से-गूढ़ बात को भी ऐसे सीधे-सादे शब्दो और ऐसी आम-फहम भाषा मे कहते है कि उन्हे सुनते ही अशिक्षित पंजाबी तक आसानी से समझ लेते और फड़क उठते हैं ।

अढ़ाई करोड़ आदिवासी

आदि-वासियो की समस्या बहुत कम लोगों की समझ में आती है। कुछ लोग तो इतना भी नहीं जानते कि इनकी जनसख्या क्या है और वे देश के किस कोने मे रहते हैं। इनमें से कुछ-एक कबीलो के नाम तो प्राय. सभी को कंठस्थ होगये है। जैसे कोल, सथाल, गोंड, भील परन्तु बहुत कम लोग ऐसे मिलेंगे जिन्हे प्रत्येक कबीले का नाम स्मरण हो। ये सभी कबीले वनों तथा पर्वतों मे रहते है, इतना तो हर कोई बता सकता है। ये सभी कबीले सभ्यता की दौड़ मे बहुत पिछड़ गये हैं, इतना तो सभी मानते हैं। यदि आप पूछ बैठे कि इसका क्या कारण है तो बहुत से लोग अवाक् होकर आपके मुँह की ओर देखने लगेंगे और यदि आप जरा आगे बढ़ कर पूछ ले कि बताइए इन कबीलों के प्रति आप देश की जिम्मेदारी कहां तक समझते है तो कदाचित् वे इधर-उधर की चर्चा छेड़कर इस समस्या को टालने का यत्न करेंगे।

एक प्रसिद्ध मानवशास्त्रवेत्ता के कथनानुसार हिन्दुस्तान के

अधिकांश आदिवासी कबीलों का वश आस्ट्रेलिया के आदि-वासियो से जा मिलता है। बहुत से अन्वेषक इस परिणाम पर पहुँचे है कि अंडमान द्वीप के आदि-वासी हब्शी परिवार के वशज हैं। आसाम की पहाड़ियो मे जो आदि-वासी जातियां बसी हुई हैं वे सब-की-सब मंगोलियन वंश की परिचायक हैं। कुल मिला कर हिन्दुस्तान के आदि-वासियो की जनसंख्या अढ़ाई करोड के लगभग है। सच पूछा जाय तो इनके जातिगत सम्बन्धो के विषय मे अत्यन्त परिश्रमशील अन्वेषण की आवश्यकता है। ५००० वर्ष पुराने मोहेनजोदडो युग मे भी कहीं पहले से ये जातियां इस देश मे मौजूद हैं। प्रत्येक जाति का आचार व्यवहार अलग-अलग है। यद्यपि बहुत से स्थानो पर आचार व्यवहार की एकता भी दृष्टिगोचर होती है।

सभी आदि वासी जातिया सभ्यता के सम्पर्क से अछूती रह गई हो यह बात नही। ज्यों-ज्यों आर्यों की संस्कृति, जो एक जागरूक सभ्यता का प्रतिनिधित्व करती थी, फैलती चली गई, आदि-वासी जातियो की संस्कृति सकट मे पड़ गई। जब भी ससार के इतिहास मे ऐसे अवसर आये है, आदि-सभ्यता के लिये यह अत्यन्त असंभव हो गया कि वह अपने से उन्नत सभ्यता के सम्मुख डट कर खड़ी रह सके। अत. हिन्दुस्तान मे भी ऐसा ही हुआ। आदि-वासी जातियों को अपने बचाव के लिए वनो और पर्वतो का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। परन्तु आर्य संस्कृति के प्रभाव से बच सकना कुछ सहज न था। आदि-वासियो के अनेक वंशज हिन्दू समाज के निम्न स्तरो मे समाते चले गये। भले ही आप उन्हे उनके वास्तविक रूप मे न पहचान सकें। परन्तु यदि जरा ध्यानपूर्वक देखा जाय तो हमारे समाज मे आप को आदि-वासियों के वशज अवश्य नज़र आ जायेगे। इनका आचार-व्यवहार समय ने बहुत कुछ

बदल डाला है, यद्यपि उनके चेहरो पर युग-युग का इतिहास लिखा हुआ प्रतीत होता है और उनकी धमनियो मे आज भी उनके उन्ही पूर्वजो का रक्त बहता है जिनके एक करोड के लगभग वशज आज भी हमारे देश मे मौजूद है, जो वनो और पर्वतो की शरण मे रहने के कारण बदलते हुए जमाने से बचकर जीवन व्यतीत करते रहे।

अढ़ाई करोड मे से डेढ़ करोड आदिवासी या तो बाकी के एक करोड़ वनवासी कबीलों की भाति वन-जीवन से ओत-प्रोत नहीं रह सके या वे अपनी सस्कृति के स्थान पर हिन्दू सस्कृति से प्रभावित होने के कारण अपने अन्य सहवशजो से दूर चले गये। बहुतो ने अपनी मूल भाषा छोड़ दी और उसके स्थान पर पास के प्रान्त की भाषा को अपना लिया। यह भाषा छूटने का क्रम किसी-किसी स्थान पर आज भी चल रहा है।

जहां तक आदिवासियो की समस्या का सम्बन्ध है, हमे इस समूची अढाई करोड़ जनसख्या की दृष्टि से ही किसी परिणाम पर पहुँचना होगा क्योकि यदि उनकी आर्थिक गति विधि या संस्कृति पर विचार किया जाय तो वे अन्य सभ्य समाज के मुकाबले मे प्राय समान रूप से पिछडे हुए है।

मुझे उन कबीलो का परिचय प्राप्त करने के अनेक अवसर मिले है जिन्हे आधुनिक सभ्यता छू भी नही गई। उनके यहा आज भी कृषि का प्रारम्भिक रूप नजर आता है जिसे हम 'चल खेती' कह सकते है। यह उस समय का स्मरण दिलाती है जब मनुष्य के मस्तिष्क ने हल से काम लेना नहीं सीखा था। वन के किसी भाग मे आग लगा दी जाती है, फिर इसी राख मे बीज डाल देते है। इस प्रकार वन के विभिन्न भागो मे स्थान बदल-बदल कर खेती की जाती है। यहां यह बता देना भी अनुपयुक्त न होगा कि किसी-किसी कबीले की सस्कृति हल

के प्रति तिरस्कार का भाव रखती है। किसी कबीलेदार से पूछ देखिये, वह यही कहेगा कि हल से धरती माता के वक्षस्थल को चोट पहुँचती है, अत. हल उसके लिए तिरस्कारके अतिरिक्त भय की वस्तु है।

आदिवासियों का सामाजिक जीवन विशेष महत्त्व रखता है। प्राय. गाव की चौपाल का निर्माण कुछ इस प्रकार किया जाता है कि चारों ओर यह घरों से घिरी रहे। जन्म से मृत्यु पर्यन्त यही चौपाल गांव की मुख्य जगह मानी जाती है जहां बैठ कर गाव के सम्बन्ध मे छोटे-बड़े फैसले किये जाते है। गांव का प्रत्येक कार्य मुख्य रूप से सामाजिक गतिविधि का प्रतीक बन जाता है क्योंकि इस मे समस्त गाव भाग लेता है। गांव भर के नवयुवक मिलकर एक ही स्थान पर सोते हैं और 'कुमार-आश्रम' की इस प्रथा पर समस्त कबीले का सिर गर्व से ऊँचा उठ जाता है। यही वह स्थान है जहा कबीले के नवयुवक कबीले की परम्पराओं तथा रीतियों की मौखिक शिक्षा पाते है। कुछ कबीले ऐसे है जहा गांव के 'कुमार आश्रम' मे गांवों के युवको और युवतिया के लिए एक साथ सिम्मिलित रूप से रहने की प्रथा चली आती है और कहीं-कहीं युवकों और युवतियो के लिए अलग-अलग स्थान स्थिर किया जाता है।

कबीलेदार से पूछ देखिए, वह बताएगा कि उनके यहां भूमि किसी प्राणी विशेष की सम्पत्ति नही है। वन का वह भाग, जहा गाव के लोग खेती करते है, समस्त गाव अथवा कबीले ही के अधिकार मे रहता है। किसी-किसी कबीले मे यह प्रथा भी चली आती है कि गाव का समस्त अनाज किसी एक स्थान पर जमा किया जाय और आवश्यकतानुसार इसका वितरण किया जाय। इस पद्धति को हम आधुनिक समाजवाद के अत्यन्त निकट पाते है।

प्रत्येक ऋतु वनवासियों के लिए अपने साथ एक उत्सव लाती है, जब समस्त कबीला मिलकर गायन तथा नृत्य से ओतप्रोत हो उठता है। विशेषतया वसन्त आदि-वासियो के सामाजिक जीवन मे नये आनन्द की वृद्धि करता है। इन उत्सवो की पृष्ठ भूमि मे भी, जैसा कि आदि-वासियों के समस्त जीवन मे पग पग पर दृष्टिगोचर होता है, अनेक मूढ़ विश्वास तथा जादू टोने का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। वन के वातावरण के अनुरूप आदि-वासियो की सस्कृति प्रत्येक उत्सव, ऋतु के सौंदर्य तथा आनन्दोल्लास के सजीव चित्र उपस्थित कर देती है। ढोल की आवाज पर समस्त कबीले के कान खडे हो जाते हैं। प्रत्येक कबीले के अनेक नृत्य ढोल के गिर्द घूमते है। प्रत्येक कबीले के लोकगीतो मे ढोल की बार-बार प्रशंसा की गई है। कबीले की सम्मिलित आवाज ढोल की ताल पर ऊंची नीची होती है। इसी की ताल पर नाचने वाले युवको और युवतियो के पांव उठते और गिरते है।

यह बात स्पष्ट है कि हिन्दुस्तान मे, जहां हिन्दू सस्कृति मे अन्य सस्कृतियो को अपनाने तथा समाविष्ट करने की विलक्षण शक्ति के प्रमाण मिलते हैं, आदिवासी कबीलो की सस्कृति बहुत हद तक मृत्यु का ग्रास बनने से बच गई है। संसार के अनेक प्रदेशों मे पश्चिमी सभ्यता के प्रहार ने अनेक आदि-वासियो की सस्कृतियो को एक सिरे से दूसरे सिरे तक मिटा डाला है और इसके प्रतिकार स्वरूप वे उन्हे कुछ भी नहीं दे सकी। अतः देखने वालो ने बताया है कि वहा आदि वासी एक प्रकार से पगु हो गए है, क्योकि अपनी सस्कृति रूपी टांगे गंवा कर वे पश्चिमी सभ्यता से लकड़ी की टांगे भी प्राप्त नही कर सके। परन्तु हिन्दू संस्कृति अपने देशवासियों को अत्यन्त स्नेह-पूर्वक आदिवासियो की झोपड़ियों तक ले गई और कुछ इतनी नीति-

मत्ता से देवताओं का परिचय कराया गया कि वे आदिवासियो के देव परिवार मे सम्मिलित हो गए। पारस्परिक आदान-प्रदान आवश्यक था। अत. जहां आदिवासियो के देवताओं मे वृद्धि हुई वहां हिन्दुओं के देवताओं मे आदि-वासियों के देवताओं का समावेश हो जाने के कारण इनकी देवश्रेणी का क्षेत्र भी बढ़ गया। यह ठीक है कि हिन्दू सस्कृति ने आदि-वासियों को अपना कर उन्हे अपने निम्न-वर्ग मे स्थान दिया। परन्तु जहां तक आदि-वासियों का सम्बन्ध है उन्होने इसे भी अपना अहो-भाग्य मान लिया। किसी-न-किसी रूप मे आदि-वासियों के कबाले, जो हिन्दू संस्कृति से प्रभावित हुए अभीतक अपनी परम्पराओं को स्थिर रखते चले आए है।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अंगरेजी शासन-काल मे आदि-वासियों को सब से अधिक क्षति पहुँची, और इस प्रकार आधुनिक सभ्यता का सम्पर्क उनके लिए अत्यन्त अहितकर सिद्ध हुआ। इस ह्रास को रोकने की सभी चेष्टाएँ असफल रही है। मैदानों से आये हुए साहूकार, कर-संग्रही तथा छोटे अफसर गिद्धो की भांति भोले-भाले तथा अत्यन्त ईमानदार वनवासियो पर झपटते चले गये। इसका यह परिणाम हुआ कि अनेक स्थानों पर वनवासियो के हाथ से उनकी भूमि भी छिन गई। साहूकार के पास बड़ा तेज हथियार था रुपया। बेचारा एक बार ऋण लेने के चक्कर मे फसा नहीं कि बस फिर वह अपनी भूमि देकर ही इस चक्कर से निकल सकता था। अगरेजी ढग की अदालतो का चक्कर अलग वनवासियों की आर्थिक लूट-खसोट मे सहायक हुआ। आज अनेक स्थानों पर बेचारा वनवासी भूमिहीन मजदूर के रूप मे हल चलाता है। उसकी असहाय दशा देखकर किसी भी सहानुभूतिपूर्ण व्यक्ति के सम्मुख एक दुखान्त चित्र उपस्थित हो उठता है। वनों के

लिए 'चल खेती' की परम्परा हानिकारक ठहराई गई। अत आधुनिक सभ्यता वनवासियो को एक स्थान पर बस जाने तथा हल चला कर खेती करने को प्रेरित करती चली गई। वनवासी मजबूर थे। यद्यपि इस परिवर्तन के कारण उनकी जीवन पद्धति तथा सामाजिक बन्धन ढीले पड गये। अधुनिक शिक्षा का सदेश भी वनवासियो तक पहुँचा। परन्तु इस दिशा मे आधुनिक सभ्यता कुछ अधिक सफल नहीं हो सकी। शिक्षा के साथ-साथ वनवासी बालक मे हीनता का भाव उदय होने लगता है, क्योंकि एक तो मैदानों के विद्यार्थियों के साथ बैठते उसे यह अनुभव होता है कि वे उसे घृणापूर्ण समझ रहे है, और दूसरे स्वय अध्यापक भी उनके इस मनोवैज्ञानिक संकट मे किमी प्रकार सहायक होने के स्थान पर उलटा उनपर व्यंग्य कसना अधिकार समझता है। ईसाई पादरियो के प्रयत्नो द्वारा कुछ वनवासी ईसाई धर्म मे सम्मिलित हो गये है। आसाम की 'खासी' जाति ने ईसाई धर्म के साथ-साथ आधुनिक शिक्षा को भी अपनाने की चेष्टा की है। शिक्षा का स्वरूप कुछ ऐसा होना चाहिए कि वनवासी बालक अपनी सस्कृति से घृणा न करने लगे। उच्चतम शिक्षा के साथ-साथ उनके अन्दर उस क्षमता का विकास होना चाहिए जिसके द्वारा वे अपनी संस्कृति की सामूहिक शक्ति तथा प्रेरणा से एकदम वचित न हो जांय। बैरियर एलविन, जिन्होने वनवासियो की समस्या का गहरा अध्ययन किया है, एक स्थान पर लिखते है, 'वनवासियों की सभ्यता को आधुनिक सभ्यता मे परिणत करने का प्रश्न ही नहीं उठता। वन्य सभ्यता को छोड़ने से उनका क्षय ही होगा। बैरियर एलविन का विचार है कि वनवासियों को सामाजिक जीवन के निम्नतम स्तरो मे गिरने से बचाना होगा और यह उसी समय सम्भव है जब कि उनके प्रति विशेष व्यवहार तथा उनकी सुरक्षा की विशेष

व्यवस्था की जाय।

आरम्भ मे अगरेजी सरकार ने वनवासियों के प्रति विशेष व्यवहार को कोई महत्व नही दिया था। परन्तु १६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे इसका महत्व समझा जाने लगा। अत: वे सब प्रदेश, जहां इन जातियों की जन-संख्या अधिक थी, पृथक कर दिये गये और उन्हे साधारण कानून के आतक से भी मुक्त कर दिया गया। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि वहा केवल वही अधिकारी नियुक्त किये जांय जिन्हे इन जातियों के प्रति विशेष सहानुभूति हो या जो इन जातियो के सम्बन्ध मे आवश्यक ज्ञान रखते थे। इसके पश्चात् सन् १६३५ के 'भारतीय शासन विधान' की सीमा से आदि-वासी कबीलो के कुछ ऐसे प्रदेश 'बहिर्गत' अथवा 'आंशिक रूप मे पृथक्' कर दिये गये और उन प्रान्तों की सरकारों पर उन प्रदेशो के शासन के लिए 'विशेष उत्तरदायित्व' रखा गया। इस पद्धति का केवल मात्र यही उद्देश्य था कि इन प्रदेशो को उस समय तक राजनीति के दलदल मे न फसने दिया जाय जब तक कि वे विशेषरूप से राजनीति के हथकंडे समझने के योग्य न हो जांय।

आसाम ही एक ऐसा स्थान है जहां सुरक्षा की नीति के कारण आदि-वासियों की संस्कृति के विकास के साधन जुटाये जा सके है। नागा कबोले से 'सिर के शिकार' की प्रथा को बन्द कराने मे बड़ी सफलता हुई है। इसके अतिरिक्त शिक्षा, चिकित्सा तथा उन्नत कृषि की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

यदि कोई यह सोचता है कि वनवासियों के विकास को रोक कर उन्हे केवल अपनी वर्तमान अवस्था तक ही सीमित रखने की पद्धति द्वारा चिड़ियाघर के जीवो की भांति उनकी आदि-संस्कृति की प्रदर्शनी का प्रबन्ध किया जाना चाहिए तो वह सचमुच बड़ी भूल करता है।

अब जब कि हिन्दुस्तान बडी तेजी से स्वतन्त्रता की ओर बढ़ रहा है, यह और भी आवश्यक हो गया है कि आदि-वासी की समस्या पर नये सिरे से विचार किया जाय। उन्हे आधुनिक जीवन के अनुकूल बनाना अत्यन्त आवश्यक है। उनकी शिक्षा का प्रबन्ध इस प्रकार किया जाय जिससे उनकी सस्कृति के श्रेष्टतम तत्त्वा की रक्षा हो सके। उनकी आथिक अवस्था सुधारने की ओर सब से अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। जब उन्नत कृषि के उपायो द्वारा उन को धरती पर अन्न-ही-अन्न हो जायगा तो उनकी सस्कृति मे एक नयी परम्परा का आह्वान किया जायगा। धरती माता उस समय खुश होती है जब उसके पुत्र अन्न उगाने मे परिश्रम और धैर्य दिखाये, इस नयी परम्परा की यह आवाज स्वत आदि-वासियो के शत-शत लोकगीतों तथा नृत्यों मे गूंज उठेगी।

नावागई के हुजरे में

सन् १९३५ पठान-प्रदेश। सैद रसूल के साथ मैं नावागई आ पहुँचा हूं। खासा ग्राम है। नाम भी तो सुन्दर है। 'नावागई' अर्थात् नई दुलहिन। काश, मेरे अपने ग्राम का भी यही नाम होता।

मैं थका-माँदा हूँ। और सैद रसूल तो पठान ठहरा। यह दूसरी बात है कि वह कालिज का विद्यार्थी है और ग्राम के दूसरे पठानों की तरह हट्टा-कट्टा नहीं है, पर है तो आखिर पठान-रक्त ही उस की नसों में। ऊपर से मैं भी थकावट जाहिर नहीं होने देता। यों पैदल चलना मुझे पसन्द है। आज सुबह से यों ही शरीर शिथिल है। नावागई आना तय हो चुका था, दिल बोला—चलो।

'वह सामने हुजरा है।'

'ठीक।'

'यहीं हुजरा में रात बिताएंगे आज।'

'बहुत ठीक।'

हुजरा यानी अच्छे खासे कद का कच्चा कोठा। पक्का भी

होगा कहीं। हर एक ग्राम मे एक हुजरा तो रहना ही चाहिए। अकसर ग्राम के हर एक मुहल्ले का अपना-अपना हुजरा होता है। इस नावागई ही मे दूसरे हुजरे मौजूद हैं। रात के समय ग्राम के अविवाहित लड़के अपने-अपने हुजरों मे आकर सोते हैं। पॉच-छ. साल की आयु से लड़के हुजरों मे सोना शुरू कर देते है। हर प्रकार के परिचित और अपरिचित मेहमानो और मुसाफिरों के लिए हुजरे का द्वार खुला रहना चाहिए, यह यहाँ की रीत है। ग्राम का 'मलिक'—मुखिया, मेहमानो की खातिर-दारी हमेशा से अपने जिम्मे लेता आया है।

आतिथ्य मे पठान बहुत रस लेते है, उन के लहू मे शायद यह सदैव जीवित रहेगी। अभी-अभी हमे मलिक ने खाना खिलाया है।

खाना हमारे आगे रखते वक्त मलिक क्या कह रहा था—

'दस्तरख्वान ता मे मुगोरा, तन्दी ता मेगोरा' यानी दस्तर-ख्वान की तरफ मत देख, मेरी पेशानी की तरफ देख!' मतलब यह कि मेज़बान को हमेशा नम्र रहना चाहिए, चाहे वह लाख अमीर हो, मेहमान के रूबरू उसे अपने दस्तरख्वान के लज़ीज़ खाने के बजाय इस से कहीं ज्यादा वह खुशी ज़ाहिर करनी चाहिए जिस की कुछ-कुछ रौशनी आदमी की पेशानी पर ज़ाहिर हुआ करती है।' एक पुरानी कहावत थी।

'अच्छी कहावत है। सैद रसूल भाई इसके जवाब मे आप ने क्या कहा था?'

'मैने कहा था, 'प्याज़ दे बी, खोपन्याज दे बी।' यानी 'मुझे चाहे प्याज़ ही दो, मगर न्याज़ (प्रेम) से दो!' यह भी एक पुरानी कैहावत है।

हुजरा का एक ही बड़ा द्वार है। भीतर बहुत-सी चारपाइयाँ पड़ी है। इन्हीं पर रात के समय लड़के आ कर सोयेंगे। बाहर,

आँगन मे शहतूतो के नीचे, कुछ वयोवृद्ध पठान बैठे हुक्का पी रहे हैं।

लो, भीतर लोग जमा होने लगे। संगीत की महफिल जमेगी। यह यहाँ की रीत है। हर रात यह महफिल जमती आई है, युग युगान्तर से। दिन-भर के परिश्रम के बाद थके-मांदे किसान यहाँ दिल का आराम पाते है। उनकी रूहे यहाँ हलकी हो जाती है। जातीय उत्सवो और त्योहारों के दिनों में हुजरों के गीत-सम्मेलन जोबन पर आ जाते है।

'डूम' गायक ने रूबाब उठा ली है। वह गा रहा है। उसकी अंगुलियाँ संगीत की सोई देवी को जगा रही है।

'डूम' लोग प्रायः हज्जाम का काम करते है। फोड़ों की चीर-फाड़—जर्राही, सरंजाम देना भी इनका पुश्तैनी धन्दा है। पर यह सब पीछे। मूलत' वे पठानों के कौमी गवैये हैं।

'यह क्या गीत है, सैद रसूल ?'

'एक पुराना गीत है—

क़लम द-स्तो काग़ज़ द स्पिनो !

यो सो मिसरे पखिनी स्ते यार ता लो गमा !'

यानी—

'सोने की क़लम है और चाँदी का कागज है। लहू से लथ-पथ चन्द गीत महबूब के पास भेज रही हूँ !!'

पठानों के गीतों में प्रेम के मीठे तरानों की कमी नहीं, बिरह के स्वर भी उन की प्रतिभा को छू गये हैं, बार-बार, और फिर इन गीतों के शब्द लोक-मानस से पैदा हुए हैं, और लोक-मानस मे ही इन्हे अमर-स्थान प्राप्त हुआ है।

'डूम' गायक के स्वरों में सरसता है, उपस्थित जनता मुग्ध हुई बैठी है। यों अच्छे-बुरे दोनों प्रकार के लोग सभी जातियों मे होते है। जो लोग अखबार पढ़ते है, और पठानों के सम्बन्ध

में काली ख़बरें छपी देखते हैं, वे समझने लगते हैं, शायद सारे-के-सारे पठान ख़ूनी है, डाकू है, पर बात असल मे यह नहीं है। यह पठान जो मेरी बगल मे बैठा है कितना सौम्य प्रतीत हो रहा है। और वह उस कोने की चारपाई पर बैठा युवक अपनी आँखों मे एक दिव्य प्रकाश दिखा रहा है। नहीं, ये लोग कभी डाका नही डालेंगे। डाकू कोई और ही पठान होंगे, जिन्हे ख़ूनी शेर की भाँति लहू की चाट पड़ गई हो, हर शेर भी तो, सुनता हूं, जंगल के पास के ग्राम मे आ कर आदमियो की बस्ती पर धावा नही बोल दिया करता, आदमी के लहू की जब एक बार, दो बार, तीन बार, उसे चाट पड जाती है, तभी वह ज़बरदस्त इच्छा लिये—आदमी का ख़ून पीने की, मांस खाने की कामना लिये, आदमी की बस्ती मे घुसता है, हर एक शेर तो यों उत्पात नहीं मचाता। अवश्य ही वे पठान जो उत्पात मचाते हैं, किसी कारण से ही ऐसा करते है। नावागई के किसान पठानों मे वे खतरनाक नमूने नज़र नहीं आयेंगे, और यही हाल सैकड़ों ग्रामों का है।

यह क्या ? मै तो दूसरे ही विचार मे पड गया था। आया हूं गीत सुनने और लिखने। अपने काम मे गफ़लत तो ठीक नहीं।

'यह क्या गीत गाया जा रहा है, सैद रसूल भाई ?'

'आप का ध्यान शायद इधर न था। एक-दो गीत तो गाए भी जा चुके हैं। घबराइये नहीं, मैने उन्हे लिख लिया है। सुनिये, हाल का गीत है—

वार दे तेर शो उग्रडा गुला!
ब्याब बौरा व फ़रियाद श्रौ तंदे बोवई !!'

याबी—

'अरे वसन्त के फूल! तेरी बारी गुज़र गई।
अब भौरा फरियाद करेगा और पछतायेगा!'

मैंने अपने मित्र की मार्फत गायक से एक आध वीर रस का गीत गाने की बात कहलाई है। वह मान गया है। गीत है—

लप जाँगू के जाड़ा माँ !
रता मलगरी ब ता दवीज़ न गणी !

यानी—

'ऐ मेरे बेटे ! झूले मे रो मत !
वरना तेरे हम-उम्र तुझे बुज़दिल समझेंगे !'

यह हमारे यहाँ माताएँ लोरियों मे भी गाती है । इस गीत पर हमारे यहाँ हर आदमी को एक खास नाज़ है।

फिर एक दूसरा गीत है—

नन दे बार दई ख़ोबुना बुकूड़े !
सबा बार दई द मैदान ब गटी !!

यानी—

'(ऐ मेरे बेटे !) आज तेरी सोने की बारी है ! कल तेरे सामने मैदान सर करने की बारी आयेगी।' यह भी लोरी मे शामिल हो चुका है, कभी का।

नावागई की यह रात मेरे हृदय में सदा ताज़ा रहेगी। तीस-चालीस के करीब तो अच्छे 'लंडई' गीत ही सैद रसूल ने मेरे लिए ,खूब सतर्क रह कर लिख लिये है। चन्द 'लोबा' गीत भी और चन्द 'चारबैते' भी बाकी बहुत-से गीत, जो यहाँ गाये गए हैं, हमारे पास पहले ही मौजूद है।

रात बहुत चली गई है।

धीरे-धीरे महफिल बरख़ास्त हुई। हम भी निद्रा देवी की बाट जोह रहे है। रात तो आराम के लिए बनाई गई है, मैं सोच रहा हूं, नींद भी ज़रूरी है। वाह, यह ख्याल भी अब आया है, जब कि अपना स्वार्थ पूर्ण हो चुका है। तब यह ख्याल क्यों न आया, जब मैं कभी गायक की ओर निहारता था, सतर्क हो कर,

और फिर यह भी देखता जाता था कि सैद रसूल की कलम चल रही है या रुकी है ?

× × ×

भोर हुआ, हम नावागई से विदा हो रहे है। पीछे मुड़ गये हैं। 'यहॉ कभी फिर भी आयेगे ?'—सैद रसूल भाई कह रहा है। 'बहुत ठीक !' मै कह रहा हू।

हम पैदल चल रहे है।

× × ×

पर आज तक तो दुबारा वहॉ जा नही सके।

ओ नावागई के हुजरे ! न सही, यदि मै तेरे यहॉ दोबारा न भी आ सकूॅ ! तेरा चित्र तो मेरे हृदय-पटल पर सदा कायम रहेगा और तेरे 'मलिक'—मुखिया के वे शब्द 'मेरे दस्तरख्वान की ओर मत देख, मेरी पेशानी की तरफ देख' मेरे अन्तस्तल मे सदा गूॅजा करेगे।

नेपाली-कवि भानुभक्त

पूरे एक सौ पंद्रह वर्ष पहले । सन् १८३३ की बात है। वसन्त के दिन थे । सोई हुई प्रकृति जाग उठी थी। खिलते हुए फूल कह रहे थे--'वसन्त आया, वसन्त आया।' नेपाल की उपत्यका मे एक बूढ़ा घसियारा, जो अपने जीवन मे ऐसे कितने ही वसन्त मना चुका था, अपने थके हुए हाथो से धीरे-धीरे घास काट रहा था। बग़ल से ही एक झरना बच्चों की तरह खेलता-कूदता, मचलता, नाचता-गाता बह रहा था। घसियारा घास काटता जाता और बीच-बीच मे झरने के स्वर-मे-स्वर मिला कर अपनी बूढ़ी आवाज़ से कुछ गाता जाता था।

थोड़ी दूरी पर, झरने के किनारे, एक युवक सो रहा था। आँख खुलने पर उसने पके हुए आम-से घसियारे को घास काटते और आनन्द मनाते देखा, तो वह उसके समीप जाकर बोला, 'सुनाओ, भई घसियारे, क्या हाल है तुम्हारा ?'

घसियारा कहने लगा, 'क्या पूछते हो मुझ ग़रीब का हाल? मैं हूॅ ही किस काबिल ? रूखा-सूखा जैसा भी मिल जाता है, उसी से इस पापी पेट की आग बुझा लेता हूॅ।'

युवक ने पूछा, 'घर में और कौन-कौन है? कोई लड़का नहीं है क्या, जो इस बुढ़ापे मे तुम्हारा हाथ बॅटा सके?'

यह सुन कर घसियारे के मुखमंडल पर कुछ चमक-सी आ गई। वह बोला, 'घर मे चार प्राणी हैं—औरत, दो छोटे-छोटे बालक और चौथा खुद मै। सब को मै ही खिलाता हूॅ, यह बात मै नहीं मानता, सभी का अपना-अपना भाग्य है, पर वह अपना जलवा दिखाता रहता है मेरी इस खुरपी मे से ही।'

कदाचित् युवक को घसियारे की सीधी-सादी, पर अनुभवपूर्ण, बातों मे रस आने लगा। 'एक-आध क्षण चुप रह कर उसने फिर प्रश्न किया—'हॉ, तो कुछ जमा भी करते हो, या जो कमाया, बस खा डाला?'

खुरपी को ज़मीन पर टिकाते हुए घसियारे ने कहना आरम्भ किया, 'जमा करने की बात भी क्या पूछी! इतनी मेरी कमाई ही क्या है, जिसे मैं जमा करूॅ। और करूॅ भी तो किसके लिए? मेहनत से कमाया हुआ धन, कमाने वाले की मौत के बाद, दूसरों की मौज का सामान बनता है, और मौज करने वाले भले आदमी यह कभी सोचते तक नहीं कि इसके लिए किसी ने खून-पसीना एक किया होगा। पैसा-पैसा जोड़ कर मैने थोड़ा-सा धन अवश्य जोड़ा था, उससे मैने एक कुआॅ[1] बनवा दिया है। ज्यादा नहीं तो सौ-दो-सौ वर्ष तक ही सही, जब तक यह कुआॅ रहेगा, पानी पीने वालों को मेरी याद दिलाता रहेगा।'

बूढ़े घसियारे से बात करने वाला युवक ही आगे चल कर 'कवि भानुभक्त' के रूप मे नेपाली-भाषा-भाषी जनता के सम्मुख आया।

---

१ बनारस मे एक पिसनहारी का कुआँ है, जिसके सम्बन्ध में प्रेमचन्द जी ने एक कहानी भी लिखी है।

उपर्युक्त घटना का उल्लेख करते हुए भानुभक्त ने निम्न-लिखित कविता लिखी है—

भर् जन्म घाँस् तिरमन् दिइ धन कमायो,
नाम क्यै रहोस् पछि भनेर कुवा खुनायो।
घाँसी दरिद्रि घर को तर बुद्धि कस्तो,
मो भानुभक्त धनि मै कन आज यस्तो ॥१॥

मेरा इनार न त सत्तल पाटि क्यै छन्,
जेधन् र चीज हरु छन् घर भित्र नै छन्।
तेस घाँसीले कसरी आज दिये छ अर्ती,
धिक्कार हो मकन बस्नु न राखि कीर्ति ॥२॥

'जीवन-भर घास खोद-खोदकर घसियारे ने धन कमाया और मरने के बाद नाम रहे, यह सोचकर उसने कुआँ खुदवाया। घर का दरिद्र है यह घसियारा, पर कितनी कमाल की है उसकी बुद्धि। मैं भानुभक्त धनी अवश्य हूं, पर आज कहीं गरीब पाता हूँ अपने को इस घसियारे से भी।

'आह! न मैंने कोई कुआँ खुदवाया और न कोई सराय ही बनवाई। जिस घर को मैं अपना समझे बैठा हूँ, वह है सब घर वालों के अधिकार में। अपनी इच्छा से मैं उसे किसी भी भले काम में नहीं लगा पाया। कैसी शिक्षा दी है मुझे आज इस घसियारे ने। धिक्कार है, धिक्कार है, मेरे इस कीर्तिहीन जीवन पर धिक्कार है।'

× × ×

नेपाल की राजधानी काठमण्डू के पश्चिम 'तुनहूँ' नामक एक जिले के 'रमघा' नामक ग्राम के एक ब्राह्मण-परिवार में सन् १८११ में नेपाली भाषा के आदिकवि भानुभक्त का जन्म हुआ था। पठन-पाठन के साथ-साथ यह ब्राह्मण-परिवार खेती-बारी भी करता था। भानुभक्त के पिता धनंजय का झुकाव कदा-

चित् कृषि की ओर ही अधिक रहा होगा। भानुभक्त के पितामह 'श्रीकृष्ण' काफी वृद्ध थे और अपना सारा समय पठन-पाठन मे ही लगाते थे। उनकी सरपरस्ती मे भानुभक्त की शिक्षा का श्रीगणेश हुआ। अठारह वर्ष की आयुपर्यन्त वे संस्कृत पढ़ते रहे। उन दिनों नेपाल में सस्कृत के सामने नेपाल भाषा[1] का स्थान बिलकुल गौण समझा जाता था। खासकर पंडित-मंडली तो यही समझती थी कि यह एक गॅवारू भाषा है। पढ़े-लिखे लोग कभी भूल कर भी यह न सोचते थे कि जब वे स्वयं अपनी मातृ-भाषा में कुछ न लिखेगे, तो उसका साहित्य आखिर आयेगा कहाॅ से ?

भानुभक्त अपनी मातृभाषा नेपाली के एक तपस्वी सेवक थे। उनके हृदय मे रह-रह कर नेपाली-साहित्य-निर्माण की लहरें नाचा करती थी। उन दिनों नेपाल मे सस्कृत की सुविख्यात पुस्तक 'अध्यात्म रामायण' का बहुत प्रचार था। उसे जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए उन्होंने इसका नेपाली-पद्यानुवाद करना आरम्भ किया। बालकाण्ड का अनुवाद उन्होंने सन् १८४० में ही कर डाला था, पर इसके पश्चात् कई एक कारणों से कई वर्षों तक वे इस कार्य मे हाथ नहीं लगा सके। इसके बाद सन् १८५१ मे उन्होंने अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा तथा सुन्दरकाण्ड का अनुवाद किया। सन् १८५२ मे युद्ध और उत्तरकाण्ड का भी अनुवाद हो गया। इस प्रकार रामायण का अनुवाद-कार्य शेष हुआ। अनुवाद की भाषा प्रौढ़ और सरल है। उसमे कवि भानुभक्त का अपना व्यक्तित्व-विशेष नहीं दीखता। और यह है

---

१ नेपाली भाषा का मौलिक तथा आरम्भिक नाम गोर्खाली है। इधर कई वर्षों से इस भाषा का नवीन नामकरण हुआ है। दार्जिलिंग के नेपाली-साहित्य-सम्मेलन ने इस नये नाम के प्रचार में काफी यश प्राप्त किया है।

भी असम्भव, क्योकि भानुभक्त ने वहाँ सफल अनुवादक होने की ही चेष्टा की है। कवि-कुल-गुरु वाल्मीकि के या तुलसीदास के राम, सीता, लक्ष्मण तथा अन्य पात्र उनके अपने पात्र थे; और उनके चरित्र चित्रण मे अपने व्यक्तित्व की छाप है। इधर भानुभक्त की नेपाली रामायण[1] के पात्र अध्यात्म रामायण के पात्र हैं। हाँ, अपनी इस कृति से कवि ने पंडित-मंडली को यह जरूर दिखा दिया कि नेपाली भाषा में भी संस्कृत छन्दों मे ही श्रुति-मधुर तथा साहित्यपूर्ण रचना की जा सकती है।

कवि भानुभक्त की सभी रचनाओं की अभी पूरी खोज नही हो पाई है। निकट-भविष्य के साहित्यान्वेपक को कदाचित् भानुभक्त की कितनी ही मौलिक कृतियाँ भी मिलेंगी। यहाँ उनकी कविता के कुछ फुटकर नमूने ही दिये जा रहे हैं।

पहली बार काठमण्डू के उत्तर मे बालाजी नामक स्थानका नयनाभिराम सौंदर्य देखकर भानुभक्त का हृदय मस्त हो उठा। निम्न-लिखित पद्यों मे उसी मस्ती की कुछ झलक मिलेगी —

यहा बसेर कबिता यदि गर्न पाऊँ,
यस् देखी सोख अस थोक म के चिताऊँ।
यस् माथि झन् असल सुन्दरी एक नचाऊँ,
खैचेर इन्द्रकन स्वर्ग यहीं बनाऊँ।
यति दिन पछि मैले आज बालाजी देख्यां,
पृथिवीतल भरीमा स्वर्ग हो जानि लेख्या।
वरि पछि लहराका झूलि बस्न्या चरा छन्।
मधुर बचन बोली मन लिन्द्या क्या सुरा छन्।

---

1 अभी थोड़े दिन हुए पुस्तक का सुन्दर संस्करण नेपाली साहित्य-सम्मेलन, दार्जिलिंग ने प्रवासी प्रेस, कलकत्ता से प्रकाशित किया है। इसका कुछ भाग कलकत्ता यूनिवर्सिटी के नेपाली भाषा के बी० ए० के कोर्स में भी नियत है।

'यहां बैठकर यदि मुझे कविता करने का सुअवसर मिले, तो मेरे लिए और हो ही क्या सकता है इससे अधिक आनन्द का कारण।

इसके अलावा यदि यहाँ मै किसी सुन्दरी की नृत्यकला का प्रदर्शन कर सकूँ, तो देवराज इन्द्र भी यहीं खिचे आवे, और बस, बन जाय यही स्वर्ग।

इतने दिनों के बाद आज मै कर सका हूँ बालाजी का शुभ दर्शन। 'बालाजी' क्या है, भू-स्वर्ग है। हाँ, हाँ, इसीलिए तो मैं लिखने बैठा हूं यह कविता।

यहाँ-वहाँ लताओं पर झूल रहे है पक्षीगण, और देखो तो सही, कितने बहादुर हैं ये पक्षीगण मन चुराने मे।'

काठमण्डूके लिए कवि भानुभक्त ने अपनी कविताओं मे 'कान्तिपुरी' शब्द का प्रयोग किया है। उनकी 'कान्तिपुरी' शीर्षक कविता सचमुच काठमण्डूकी एक सजीव तसवीर है। अपनी सुन्दर जन्मभूमि की राजधानी पर रीझ कर ही कवि इस रचना मे इतना रस ला पाया है—

चपला ·अबलाहरु एक सुरमा,
गुनकेसरी को, फुल लौ शिरमा,
हिडन्या सखि लौ कन ओरि परी,
अमरावति कान्तिपुरी नगरी ॥१॥
यति छन् भनि गन्नु कहा धनियां
खुशि छन् मनमा बहुतै दुनियां।
जनकी यसरी सुखकी लगरी;
अलकापुरी कान्तिपुरी नगरी।
कहिंभोट र लन्दन चीन सरी,
कहिं काल् भरि गल्लि छ दिल्ली सरी।
लखनौ पटना मद्रास सरी

अलकापुरो कान्तिपुरी नगरी ॥३॥
तरवार कटार खुडा खुकुरी,
पिस्तौल र बन्दुक सम्म भिरी।
अति सूर-वीर भरि नगरी,
छ त कुन सरि कान्तिपुरी नगरी ॥४॥
रिस राग कपट छल छन जहां,
तब धर्म कती छ कती छ यहां।
पशुका पति छन् रखवारि गरी,
शिवकी पुरी कान्तिपुरी नगरी ॥५॥

'यहाँ चचल रमणियाँ एक ही ढंग से गुणकेसरी फूलों से अपना शृंगार करके टोलियाँ बना-बनाकर चलती फिरती हैं। कान्तिपुरी नगरी क्या है, अलकापुरी है।

कितने धनवान हैं यहां, कौन गिन सकता है उन्हे। यहां की दुनिया मन-ही-मन खुशी से फूलो नहीं समाती। सचमुच यह प्रदेश लोक-सुखका सागर है। कान्तिपुरी नगरी क्या है, अलकापुरी है।

कहीं यह नगरी तिब्बत, लन्दन और चीनकी-सी प्रतीत होती है। यहाँ दिल्लीकी-सी गलियां भी हैं। लखनऊ, पटना और मदरास मानो यहीं आ बसे हैं। कान्तिपुरी नगरी क्या है, अलकापुरी है।

यहां सब ओर तलवार, कटार, खण्डा और खुकुरी के दर्शन होते हैं। शूर-वीरों की जन्मभूमि है यह। कान्तिपुरी नगरीकी-सी और कौनसी नगरी है ?

क्रोध, राग, कपट और छलका यहां क्या काम। कितना धर्म होता है यहां ? पशुपति (शिव) है यहाँ के रखवारे। कान्ति-पुरी नगरी क्या है, शिवकी नगरी है।'

जिन स्थानों को कवि ने अपने जीवन मे कभी नहीं देखा था

और जिनका गुण गान उसने अकसर सुना था, उन सबकी कल्पना उसने अपनी जन्मभूमि की राजधानी काठमण्डू मे करने की चेष्टा की है।

× × ×

किसी गिरधारी नामक 'भाट' के साथ ज़मीन के बारे में भानुभक्त को मुकद्मा लड़ना पड़ा था। अदालत मे उन्होंने निम्न-लिखित कविता अपने बयान के रूप मे पेश की थी—

स्वामिन यस् गिरधारिले अति पिर्यो व्यर्थै गर्‍यो झेल् पनी,
यस्का झेल उतार्न लाइ् खजिलो यो हो व्यहोरा भनी।
स्वामितलाइ् चढ़ाउना कन यहा क्यै श्लोक् कविता गर्यां,
मेरा श्लोक सुनि बक्म्योस् त झगरा छीनिन्छ पाऊ पर्‍या ॥ ||
साथा हुन् जति लेखिया सब कुरा आफनु व्यहोरा दरी,
ई कुरात अइन् सवाल रितले श्रेस्ता प्रमाण ले गरी।
साबित ता ठहरेन पो पनि भन्या यस्मा अइनमा जती,
तो क्या को छ गुनाहगार तिरु'ला राख्वैन एकदाम रती ॥२॥
यस भन्दा अरु पत्र पात्र छुन भोग छुन दसी छुन सही;
ओला साक्षि कुरा कहानि पनि छुन मेरा सनद छुन कहीं।
गन्यां छैन सजुर गर्‍या पनि भन्या झुट्ठा गराई दिनू;
सर्कार्मा इजहार दिया खुशि भई यो झेल कसोरी छिनू ॥३॥

'मुझे बहुत दुखी किया है इस गिरधारी ने, स्वामिन्! वृथा ही उसने मुझे ठगा, अब उलटा चाले चलता है। मेरी इस वाणी से उसके सब भेद खुल जायँगे। तभी तो मै यह कविता लिख रहा हूँ, स्वामिन्! मेरे इन श्लोकों को आप सुनेंगे, तो इस मुकद्मे का फैसला देते देर न लगेगी। अब मै आपकी शरण मे आया हूँ।

'मेरी ये सब बाते सत्य है। यदि ऐसा न हो, तो मुझ जैसे गुनहगार के लिए कानून मे जिस दण्ड का विधान हो, वह सब

मुझे दीजिए।

'मेरे पास अपनी बात के लिखित प्रमाण तो हैं ही, गवाह भी है। जिस जगह का झगड़ा है, उस पर मेरा कब्जा है, और यह मेरी मिलकीयत है, इसका प्रमाण मैं दूँगा। बस, यही मेरा आखिरी उज्र है, स्वामिन्! गिरधारी के फरेब की कलई खोलने के लिए मैं यह बयान सरकार की सेवा मे पेश कर रहा हूँ।'

अदालत तो आखिर अदालत ही ठहरी। भानुभक्त के इस मुकदमे का फैसला जल्द न हुआ। तब दुखी होकर कवि ने निम्न-लिखित रचना की—

बिन्ती डिट्ठा बिचारी सितम कति गरुँ चुप रहन्छ् न बोली;
बोलछन् त ख्याल गर्‌या झैं अनि पछी दिन् दिन् भन्दछन भोली-भोली।
की ता सकदीन भन्नू कि तब छिनी दिनू क्यान भनछन ई भोली,
भोली-भोली हुन्दैमा सब घर बिति गो बक्स्योस झोली।

'कितनी विनय करूँ मैं इन अदालती हाकिमो से? वे चुपचाप सब बात सुन लेते है, पर उत्तर मे कुछ नहीं बोलते। कुछ बोलते भी है, तो महज टालते ही हैं। हर रोज 'कल' 'कल' कहे जाते हैं, या तो वे कह दें, 'न हो सकेगा हमसे यह फैसला', या तुरन्त फैसला कर दे। क्यों वे 'कल', 'कल' कहकर मुझे टालते जाते है? 'कल', 'कल' सुनते-सुनते मेरा सब कुछ खर्च हो गया—घर-बार बिक गया; पर वह 'कल' न आया। बस, अब मुझे एक भिक्षुक की झोली चाहिए, मेरे भिक्षुक बनने मे अब देर नहीं।'

× × ×

सन् १८४६ मे कवि भानुभक्त मालगुजारी के महकमें में सरकारी नौकर थे। वे बहुत भोलेभाले व्यक्ति थे। सन् १८५१ मे किसी कर्मचारी ने उन पर झूठा इलजाम लगाया, और इसी

कारण उन्हे पांच मास का कारावास मिला। जेल के कष्ट कवि को अधिक दुखी न कर सके। मच्छर काटते थे, और पिस्सू और खटमल तो गजब ही ढाते थे, पर वे इसे कवि की दृष्टि से देखते थे। इसका कुछ आभास उनकी एक कविता मे मिलता है। इसे उन्होंने श्रीमान् कृष्णबहादुर जंगराणा को, जो उस समय नेपाल के कमाण्डर-इन-चीफ थे और जो भानुभक्त की कवित्व-शक्ति और मातृभाषा-भक्ति के कायल थे, लिखी थी—

रोज् रोज् दर्शन पाउँछू चरणको ताप छैन मन मा कछू,
रात भर नाच पनि हेछुँ खर्च न गरी ठुला चयन्‌मा मछू।
लामखुट्टे उपिजा उडुस् इ सगि छन् कै लहडमा बसी,
लामखुट्टे हरु गाउँछन् इ उपियाँ नच्छन् म हेछुँ बसी।

'अपने स्वामी के चरणो का मैं हर रोज़ ही दर्शन पाता हूँ। मेरे मन मे इस जेल-जीवनका ज़रा भी दु.ख नहीं है। बिना कुछ खर्च किये ही मै रात-भर नाच देखता हूँ और खूब मज़े से हूँ मै यहां। मच्छर, पिस्सू और खटमल मेरे साथी है। मच्छर गाते है और पिस्सू नाचते हैं, और मै उसे देख-सुनकर यहां बैठा-बैठा आनन्द मनाता हूं।

× × ×

प्राचीन कवि-प्रणाली के अनुसार कवि भानुभक्त ने अपने सम्बन्ध भी कुछ पद्य लिखे हैं। एक नमूना लीजिए—

पहाडको अति बेस देश् तनहूं मा
श्रीकृष्ण ब्रह्मण धिया,
खुप् उच्चाकुल आर्यवंशी हुन गै
सत्कर्म मा मन दिया।
बिद्या मा पनि जो धुरन्धर भई
शिक्षा भलाई दिया,
इन्‌को नाति भानुभक्त हूं

यो जानि चिन्ही लिया ।

'अति मनोहर पार्वत्य प्रदेश नेपाल,के 'तनहु' जिला में श्रीकृष्ण नामक ब्राह्मण थे । वे कुलीन आर्यवशी और सत्कर्मी प्राणी थे । विद्या मे वे धुरन्धर थे और मेरे गुरु थे । मै उन्हीं का पौत्र भानुभक्त हू । बस, यही मेरा परिचय है ।'

नेपाली साहित्यके जिस बीजको नेपालके आदिकवि भानुभक्त ने रोपा था, आज वह फला-फूला ही चाहता है । तभी तो आज हम नेपाल मे कविवर लेखनाथ और श्रीधरनीधर शर्मा जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि पाते हैं ।

इसमेकोई सन्देह नहीं कि पिछले दस-बीस, वर्षो से, जब से नेपाली साहित्य काननमे वसन्त-समीरका आगमन होने लगा है, नेपाली भाषा-भाषी कवि भानुभक्त की चर्चा करने लगे है; पर कोई भी नेपाली साहित्य-प्रेमी सज्जन भानुभक्त की नेपाली रामायण से ही सन्तुष्ट नहीं हो सकता, और यह भी सम्भावना नही की जा सकती कि भानुभक्त ने अच्छी मौलिक रचनाएं की ही नही । जो कवि 'कान्तिपुरी' शीर्षक-सी कविता लिख सकता है,उसने शायद ऐसी-ऐसी कितनी ही रचनाये की होंगी; पर किसी ने उन्हे सम्हाल कर नही रखा । आज हम कवि भानुभक्त के प्रति इतने श्रद्धालु होते हुए भी उनकी सारी कविताओ का रसास्वादन नहीं कर सकते । मनुष्य मे नई चीज़ लिखने की जितनी भूख-प्यास होती है, यदि उतनी उत्सुकता पुरानी चीजों को सम्हाल कर रखने की होती, तो इस प्रकार के दु खान्त दृष्टान्त देखने को नहीं मिलते । हम नेपाली कवियो तथा साहित्य-सेवियो से यह अनुरोध किये बिना नही रह सकते कि वे अपने इस कविरत्न की रचनाओं की खोज के लिए भरपूर प्रयत्न करे ।

तोन पुस्तकें

पहले-पहल जब अगरेजो विद्वान् टॉड ने राजस्थान के इतिहास का सजीव चित्र अंकित किया था, तभी शायद विश्व-साहित्य का ध्यान राजस्थान की ओर उठा था। फिर 'चन्दबरदाई' रचित 'पृथिवोराज-रासो' का अनुवाद प्रकाशित हुआ। फिर लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया के दौरान मे सर जार्ज ग्रोग्यर्सन ने सन् १६०८ मे बड़े खेदपूर्वक लिखा कि राजस्थान का लोक-साहित्य अनुसंधान कर्त्ताओ की राह ताक रहा है, चारण-जातिके कवियोकी कृतियों के उद्धार की ओर उन्होने बहुत जोरदार शब्दो मे विद्वानो का ध्यान आकर्पित किया। फिर फरवरी ३, १६१५ को स्व० सर आशुतोष मुकजो ने एशियाटिक सोसाइटी आफ बगाल के सम्मुख वक्तृता देते हुए राजस्थान के पुरातन ऐतिहासिक तथा साहित्यिक गीतो के बहुमूल्य महत्त्व पर प्रकाश डाला।

इधर स्वयं राजस्थान मे साहित्यिक जागृति हो रही है। श्री ठाकुर रामसिंह एम० ए०, श्री सूर्यकरण पारीक एम० ए० तथा श्री नरोत्तमदास स्वामी एम० ए० की सम्मिलित कोशिशोंसे इस दिशा मे गौरवपूर्ण कार्य हुआ है।

'ढोला मारूरा दूहा' राजस्थान का एक अमर लोक-गीत है। ढोला प्रेमी है और मरवण उसकी सुन्दरी प्रेमिका। जो स्थान पंजाब मे हीर और रॉझा के प्रीतिकाव्यको प्राप्त है,वही राजस्थान मे ढोला और मरवण के गीतो को है। यो 'ढोला' शब्द प्रेमीका पर्यायवाची बनकर पजाबी-लोकगीत की रग-रग मे समाया हुआ है, पंजाब की 'लेहदी' नामक उपभाषा का एक विशेष प्रकारका गीत 'ढोला' कहलाता है। कुछ लोग ढोला और मरवण को ऐतिहासिक व्यक्ति मानते है। पुस्तक मे काफी विचारपूर्वक इस प्रश्न पर प्रकाश डाला गया है।

श्रीगौरीशकर हीराचन्द ओझा के कथनानुसार इस पुस्तक के दोहो की उम्र ५०० वर्ष के लगभग है। ओझाजी ने अपने प्रवचन मे लिखा है—'भापा के इतिहास के अध्ययन के लिए यह काव्य उपयोगी सिद्ध होगा। कविता की दृष्टि से भी यह काव्य महत्त्वपूर्ण है। काव्य का नायक ऐतिहासिक व्यक्ति है, परन्तु घटनाओ एव वर्णनो मे कल्पना का बहुत बड़ा पुट है, जो ऐसी रचनाओ मे प्राय' स्वाभाविक है।... . सम्पादको ने प्राय. सोलह-सत्रह हस्त-लिखित प्रतियां एकत्रकर इसका सम्पादन किया है ।'

एक लोकप्रिय सोरठा, जो हर राजस्थानी की जबान पर आ जाया करता है, न-जाने कबसे इस काव्यके प्रेमियो केनाम अमर करता चला आ रहा है ; 'सोरिठयो दूहो भलो, भलि मरवण री बात, जोबन छाई धन भली, तारॉ छाई रात।" (दोहो मे भला है सोरठिया दूहा—सोरठा, कथाओ में भली है ढोला और मरवण की कथा, स्त्री वह भली जिसपर यौवन छा रहा हो और भली तारों से छाई हुई रात।)

नन्हे-नन्हे प्रेम-गीतोंके अलावा काफी लम्बे गीत भी राजस्थानी लोक-साहित्यमे मिलते है, पर ढोला और मरवणको लेकर जिस

काव्य की सृष्टि हुई है, वह अपना एक विशाल रूप रखता है।

पुरातन राजस्थान के चित्रकारो ने अलग इस कथाके विभिन्न प्रसगो को अपनी तूलिका द्वारा अभिनन्दित किया है। जोधपुर के सरदार म्यूजियम मे इस कथा के १२१ चित्र सुरक्षित है, उन्हीमे से तीन तिरगे चित्र इस पुस्तक मे दिये गए है। पहला चित्र जिसमे ढोला और मरवण ऊट पर सवार चले जा रहे हैं बहुत सुन्दर है।

ढोला का पहला नाम साल्हकुमार था। मरवणका पूरा नाम था मारवणी। उनकी प्रेम-कथा का संक्षेप रूप इस प्रकार है। सवत् १००० के लगभग ग्वालियर की सीमावर्त्ती कछवाहा-राजपूतो की नरवर नामक राजधानी मे राजा नल के घर मे ढोला का जन्म हुआ। मारवणी भी एक राजकन्या थी, उसका पिता पूगल मे राज्य करता था, जाति से वह पॅवार राजपूत था और उसका नाम था पिंगल। अकाल के दिनो मे एक बार पिंगल परिवार-सहित नल के राज्य मे अतिथि हुआ। पिंगल की रानी ढोला के बाल-रूप पर मुग्ध हो गई और हठपूर्वक उसने अपने पति को मारवणी का विवाह ढोला से कर देने के लिए मजबूर कर दिया। मारवणी की आयु उस समय केवल डेढ़ वर्ष की थी। और ढोला भी तीन वर्ष से बड़ा न था। पिंगल अपने सुदूर प्रदेश को लौट गया, मारवणी अपने पिता के साथ ही रही। जब ढोला बडा हुआ, तो उसके पिता ने इस विचार से कि पूगल बहुत दूर है और वहां का विवाह सम्बन्ध एक झंझट है, अपने पुत्र का विवाह मालवा की शाहजादी मालवणी से कर दिया। ढोला को यह न बताया गया कि पहले उसका विवाह हो चुका था। उधर मारवणी बडी हुई, तो उसके पिता पिंगल ने अपने जामाता ढोला को कई सदेश भेजे, पर ढोला की पहली स्त्री मालवणी होशियारी से सब

सदेश बीच मैं ही रोकती रही। फिर पिंगल ने कुछ गायको-द्वारा अपना संदेश भेजा। ये गायक एक बार ढोला के महल के नीचे रात-भर मारवणी का विरह-गीत मांड राग के करुण स्वरों मे गाते रहे। ढोला पर इस गीत का बहुत प्रभाव पड़ा। सुबह को उसने गायको को अपने पास बुला कर पूछ-ताछ की। ढोला ने निश्चय कर लिया कि वह मारवणी को लिवा लायेगा, पर मालवणी ने पूरे एक वर्ष तक उसे रोक रखा। फिर एक दिन ढोला का दिल उछल पड़ा, वह ऊँट पर सवार हुआ और चल दिया। पूगल मे पन्द्रह दिन रह कर वह मारवणी को साथ लेकर अपने देश की ओर लौट पड़ा। मार्ग मे मारवाणी को एक साँप ने डस लिया, पर एक सँपेरे योगी ने मारवाणी को जिलाकर ढोला को विपदा से मुक्त कर दिया। फिर दूसरी कठिनाई सम्मुख आ गई। अमर नामक एक सरदार, जो मारवणी पर मुग्ध हो गया था, फौज लेकर राह-चलते ढोला से आ मिला। उसने ढोला को अपने साथ शराब पीने का निमन्त्रण दिया, जो ढोला ने स्वीकार कर लिया। अमर के साथ एक गायिका भी आ रही थी, वह मारवाणी के नैहर की रहने वाली थी, और उसने मारवाणी को अमर की बुरी नीयत से खबरदार कर दिया। मारवणी ने एक चाल चली। पास बैठे ऊँट को उसने छड़ी से मारा। ऊँट को दौड़ते देख कर ढोला उसे पकड़ने के लिए चला। मारवणी भी दौड़ कर ढोला के पास चली गई, और उसने उससे सारी बात कह दी। झट से दोनो ऊँट पर सवार हो गये। ऊँट का एक पैर बँधा ही रह गया था; पर बहादुर ऊँट इतनी शीघ्र रफ्तार से भागा कि अमर से ढोला का पीछा करते न बना। दोनो प्रेमी नरवर पहुच गये।

प्रस्तावना बहुत विद्वत्तापूर्वक लिखा गई है। लोकगीत के जन्म तथा विकास पर वैज्ञानिक ढगसे चर्चा की गई है। भापा-

सम्बन्धी अनुसन्धानात्मक सामग्री, जो इस प्रकार के ग्रन्थ मे सदा सहायक होती है, प्रचुर मात्रा मे दी गई है। मूल दोहों के नीचे साथ-साथ फुटनोट मे अनुवाद रखे गये हैं। परिशिष्ट मे विभिन्न रूपान्तर दिये गये है, ये रूपान्तर, जो अलग-अलग हस्तलिखित प्रतियों के तुलनात्मक अध्ययन है, पुस्तक को हद से ज्यादा भारी बनाते प्रतीत होते है। लगभग १०० पृष्ठ का शब्द-कोष भी जरा हलका किया जा सकता था। ढोला-मरवण की कथा पात्र-प्रधान है, घटना-प्रधान नहीं, राजस्थान का साहित्य इस काव्य द्वारा धन्य हुआ है।

'राजस्थान रा दूहा' श्री नरोत्तमदास स्वामी के स्वतन्त्र परिश्रम का फल है। उसके सग्रह-कार्य की उमर, जैसा कि उन्होंने भूमिका मे बताया है, चौदह-पन्द्रह वर्ष के लगभग है। पुस्तक में आये दोहो की संख्या १२२७ है। कितने ही दोहे लोक-साहित्य के अमररत्न है। कुछ दोहे विशेष कवियों से लिए गये हैं। यह अभी प्रथम भाग है, इसके कई भाग और प्रकाशित होंगे, यह वायदा किया गया है।

संग्रह के सम्बन्ध में बताया गया है—'यह सग्रह लोगों से जबानी सुने हुए दूहों, मित्रो द्वारा संग्रह कर के भेजे हुए दूहों, प्राचीन तथा अर्वाचीन ग्रन्थों से संकलित किये हुए दूहों, एवं प्राचीन संग्रहों से चुने हुए दूहों को लेकर तैयार किया गया है।'

आरम्भ मे श्रीगोरीशंकर हीराचन्द ओझा का 'प्रवचन' है, फिर प्रस्तावना है। इसके दो भाग है—(१) पूर्वार्द्ध (राजस्थानी भाषा और साहित्य का दिग्दर्शन), इसे लेखक ने स्वयं विद्वत्ता-पूर्वक लिखा है। (२) उत्तरार्द्ध, इसमे पुस्तक के दोहो को लेकर साहित्यिक विवेचना की गई है। इसमे श्रीरामनिवास हारीत ने लेखक के साथ सम्मिलित परिश्रम किया है।

दोहे नौ भागो मे विभक्त किने गये है— १. विनय,

२. नीति, ३. वीर, ४ ऐतिहासिक और भौगोलिक, ५ हास्य और व्यग्य, ६ प्रेम, ७ शृंगार, ८. शान्त, ९ प्रकीर्णक। मूल दोहो के नीचे फूटनोट मे अनुवाद दिये गये है। अच्छा होता, यदि 'ढोला मारू रा-दूहा' की भॉति प्रत्येक दोहे का पूरा अनुवाद दिया जाता। पुस्तक के परिशिष्ट मे विशेष-विशेष बातों पर टिप्पणियॉ दी गई है, जो दोहों के अध्ययन मे बहुत सहायक है।

इस एक ही पुस्तक मे समस्त राजस्थान का हृदय आ गया है। खास कर वीररस और शृंगार के दोहो का चुनाव सुन्दर बन पाया है। यो अन्य दोहों को भी अपने-अपने स्थान पर ठीक-ठीक बैठाने का यत्न किया गया है। बात असल मे यह है कि इन दोहो के बीच मे कड़ी दीवारे नहीं खीची जा सकतीं।

एक दोहे मे कवि लुओं को सम्बोधित कर उठा है, 'हे लुओ! जब पृथ्वी पर वर्षाऋतु आ जायगी तो तुम कहां जाओगी?' दोहे की दूसरी पंक्ति मे लुओ ने उत्तर दिया है, 'हम उस नववधू के हृदय मे जाकर रहेगी, जिसका पति बिछुड़ गया है।' सावन मे मरुभूमि का चित्र देखिये—'हिरनियो के मन हरे हो गये, कृषको के हृदय मे उमगे उत्पन्न हुईं, तृतीया का त्यौहार, रगभरी तैयारियॉ—ये सब सावन साथ मे लाया।' एक जगह एक वियोगिन 'कुरज' पक्षियो द्वारा अपने प्रीतम तक सन्देश भेजने की बात सोचती है, कुरजे कहती है, 'हम तो पक्षी है, मानव-भाषा मे हम कैसे बोलेगी? हमारे पखो पर अपना सन्देश भले ही लिख दो।' पर यह बात कुरजे वियोगिन को कैसे समझा देती है? उससे वे किस भाषा मे बोलती हैं? अकाल को भी इन दोहो मे मानव-भाषा दी गई है; वह बतलाता है, 'मेरे पैर पूगल में है, धड़ कोटड़े मे है, और भुजाएँ बाड़मेर में रहती है, घूमता-घामता बीकानेर भी पहुचता

रहता हूँ, पर जैसलमेर मे तो निश्चित् रूप से मिलूँगा।' एक दोहे मे हम 'काचर' की लता को यह कहते पाते है, 'नौ बच्चे गोद मे है, नौ अगुली पकड़े है, और नौ ननिहाल जा रहे है। इच्छा करूँ तो और उत्पन्न कर सकती हूँ, पर अकाल पड़ जाय तो क्या खायँगे ?' एक स्थान पर भगवान से प्रार्थना की गई है, 'हे परमात्मा, हमे जगत सिंह के दरबार के कबूतर बनाना, जिससे पिछोले मे पानी पिये और राजकीय कोठार मे अन्न चुगते रहे।'—पिछोला, उदयपुर का खास तालाब है। वीररस के एक दोहे मे ढोल को सम्बोधन किया गया है—'हे ढोल, तू बार-बार बज, मै अपने स्वामी के प्रति सच्ची रहूँ। पॉच लोगो मे मेरी प्रतिष्ठा रहे और सखियो मे मेरा नाम रह जाय।' या—'मैने विवाह के समय ही पति की परीक्षा कर ली थी। वह वर के जामे के भीतर कवच पहने था। अत मैने जान लिया कि पति साथ मे थोड़ी आयु लिखा कर लाया है।' वीररस के अनेक दोहे है, जो पुराने राजस्थान को ला खड़ा करते है।

'ढोला मारु रा दूहा' और 'राजस्थान रा दूहा।'[1] से राजस्थान का मस्तक ऊँचा उठा है।

× × ×

---

१ ढोला मारू रा दूहा—(सचित्र) सम्पादक, श्रीरामसिंह, श्रीसूर्यकरण पारीक तथा श्रीनरोत्तमदास स्वामी, प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (१९३४), पृष्ठ १२+२१३+६६४, मूल्य ४) सजिल्द

राजस्थान रा दूहा—सम्पादक, श्री नरोत्तमदास स्वामी, प्रकाशक, नवयुग साहित्य मन्दिर, दिल्ली (१९३५), पृष्ठ ११+२४८, मूल्य सजिल्द २)

यह ठीक है कि ग्राम और जनता के प्रति सहानुभूति का झुकाव होने के कारण 'ग्राम्य' शब्द 'अश्लील', गॅवारू' और 'भद्दा' का पर्यायवाची बनने से बहुत हद तक बच गया है, और प्रगतिशील काव्य की निगाह मे ग्रामीण शब्दो का प्रयोग अब 'काव्य-दोष' का अपराधी नहीं बनता, फिर भी जनता के गीत के लिए ग्राम्यगीत, या श्रीरामनरेश त्रिपाठी द्वारा प्रतिष्ठित 'ग्राम-गीत', शब्द का प्रयोग बहुत युक्तिसगत नही प्रतीत होता। हर्ष का विषय है कि सुयोग्य सम्पादको ने 'लोक-गीत' शब्द को अपनाया है । गुजराती मे इस शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है, हिन्दी मे भी इसे स्थान मिलना चाहिए। ग्राम और नगर के भेद, जैसा कि श्रीसूर्यकरण पारीक ने 'हिन्दुस्तानी' मे एक बार लिखा था, अर्वाचीन काल मे बढे है। 'लोक-गीतो' को ग्राम की सकुचित सीमा मे बॉधना उन के व्यापकत्व को कम करना है। गीतों की रचना मे ग्राम और नगर का इतना हाथ नहीं, जितना सर्वसाधारण जनता का—'लोक' का। पंजाब, राजस्थान, गुजरात, युक्तप्रांत और बिहार के कितने ही पीढी से चले आनेवाले गीतो ने ग्राम और नगर मे समरूप से अपना साम्राज्य स्थापित कर रखा है—खास कर विवाह के गीत ग्राम और नगर के भेद मे कभी नहीं बॅटे, पुत्र-जन्म के उत्सव-गीतो का भी यही हाल है। इस दशा मे लोक-गीत को ग्राम-गीत कहना हास्यस्पद जॅचता है।

'गान मनुष्य-हृदय के लिए स्वाभाविक है। सुख मे हो या दुःख मे, मनुष्य गाये बिना नही रह सकता। सुख मे गाकर उत्साहित होता है, दुःख मे गाकर दुःख को भूलता है।'—इन शब्दों के साथ इस पुस्तक की प्रस्तावना शुरू हुई है। लोक-गीत को केवल काव्य की दृष्टि से ही नही देखा गया लोक जीवन के चित्र के रूप मे भी इस की महत्ता पहचानी गई है।

गीत के साथ प्राय उस का हिन्दी अनुवाद दिया गया है ।

अनुवाद की सहायता से मूल-भाषा का रसास्वादन कर सकने की सुविधा हो गई है। कही-कही अनुवाद मे अधिक मेहनत नही की गई, और गम्भीर पाठक अपनी कठिनाई दूर न हुई देख कर कुछ घबराता है, भाषा के साथ उस का परिचय नही हो पाता। प्रत्येक खण्ड के अंत मे दिये गए कठिन राजस्थानी शब्दो के कोष से भी हर कठिनाई के हल होने की आशा नहीं की जा सकती। अनुवाद की पद्धति को वैज्ञानिक बनाने की आवश्यकता है।

गीतो का चुनाव बहुत सुन्दर है। प्रथम गीत मे मेवाड की नारी उदयपुर के 'पीछोला' नामक प्रसिद्ध सरोवर के प्रति अपने चिर-संचित प्रेम का परिचय देती है, 'मेरा देश मुझे प्यारा लगता है। हे प्रिय, विदेश कैसे जाया जाय ? ऊपर है शौर्य, त्याग, देश-प्रेम और प्रतिमा-स्वरूप हमारे राणाजी के गर्वोन्नत गगनचुम्बी गवाक्ष' और नीचे है हमारा लहराता हुआ पीछोला सरोवर।' गीत की मूल पंक्ति 'ऊँचा-ऊँचा राणे जी रा गोखड़ा ए लो' का वैज्ञानिक अनुवाद 'ऊपर है शौर्य, त्याग और देश-प्रेम के प्रतिमा-स्वरूप हमारे राणा जी के गर्वोन्नत गगनचुम्बी गवाक्ष' कभी नहीं हो सकता। 'सरवर पाणीडेने मै गई, एलो, भीजे म्हारी सालूडे री कोर, वाला जो' का अनुवाद किया गया है, 'मै पानी भरने सरोवर को गई। मेरी ओढ़नी का छोर भींग रहा है—जल से या देश-प्रेम से।' यहाँ 'जल से या देश-प्रेम से' को अनुवाद के बीच डालने से अनुवाद की वैज्ञानिकता कैम हो गई है।

गीत नम्बर २३ मे 'लूँहारियो लै' नामक बार-बार आने-वाले तुक का अनुवाद ही नही किया गया। 'जाओ मरवो ले' के सम्बन्ध मे भी बस यही बतलाया गया है कि इस का प्रयोग गीत की गति मे तीव्रता लाने के लिए हुआ है। इस का शब्दार्थ

नहीं बताया गया। गीत नम्बर ५६ का अनुवाद दिया ही नहीं गया। बस, यही कहा गया है, 'उपरोक्त गीत का अर्थ स्पष्ट है।'

फिर भी बिना सकोच यह कहा जा सकता है कि राजस्थानी लोक-गीतों पर यह पुस्तक अद्वितीय है। राजस्थान का उल्लास, उस की करुणा, उस की आपबीती का इस से सुन्दर परिचय अन्य किसी सग्रह मे न मिलेगा।

प्रस्तावना मे हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी गीतो के भाव-साम्य पर विवेचनात्मक अध्ययन किया गया है। सम्पादको का कथन है, 'गीत-साहित्य के पुरुष-गीत और स्त्री-गीत नामक दो भेद किये जा सकते हैं। इन के साथ बालक-गीत नामक तीसरा भेद भी कर सकते है।' बिषयानुसार स्त्री गीतो के कुछ प्रमुख उपभेद ये बताये गये है—

धार्मिक हरजस या भजन, जात के गीत, त्यौहारो के गीत, उत्सवो के गीत, पारिवारिक जीवन के गीत, दाम्पत्य जीवन के गीत, ऐतिहासिक गीत-कथाएँ, काल्पनिक गीत-कथाएँ इत्यादि।

'राजस्थान के लोक गीत'[1] के दोनो खण्डो मे कुल मिला कर २३० गीत दिये गये है।

तीज के गीत मे कन्या ने गाया है, 'ऐ मेरी वाटिका की वृद्ध बेल, तुम को कौन सींचेगा? मेरा सावन का लोर सींचेगा, भादो की झडी लगेगी।' 'हे मेरे मोर, सावन लहरा रहा है।'

---

[1] 'राजस्थान के लोक-गीत' (प्रथम भाग दो खण्डो में)—ठाकुर रामसिह एम० ए० विशारद; श्री सूर्यकरण पारीक विशारद तथा श्रीनरोत्तमदास स्वामी एम० ए०, विशारद द्वारा सम्पादित; प्रत्येक खण्ड में एक सादा और एक तिरङ्गा चित्र, पृष्ठ-सख्या प्रथम खण्ड ४+२४६+२६ द्वितीय खण्ड ३१७+२७, प्रकाशक, राजस्थान रिसर्च सोसाइटी, कलकत्ता, मूल्य प्रति सजिल्द खण्ड २॥)

—तीज की यह टेक यदि मोर की समझ में आ सकती ! होली के गीतों में घी-मिली स्वादिष्ट लपसी और गाढ़ी खीर का गान हुआ है, ग्राम के 'चानगा' चौक में होली का खंभ उतारनेवाले युवको का लपसी और खीर द्वारा आतिथ्य करने की भावना का इतिहास कितना पुराना होगा ! 'बरस दिनों से होली पाहुनी आई है। हमारे बाड़े भेड-बकरियो से भरे है, जिन के बीच मे डाडी वाला प्रेमी बकरा घूम रहा है ! हमारा बाड़ा सुहावनी साँढ़नियो से भरा है, जिन मे गल्लेवाला युवक टोड (ऊँट) फिर रहा है। बरस दिनो से पाहुनी होली आई है !'—गीत की मूल-भाषा से कही अधिक पुरानी होगी जनता की यह भाव-धारा !

माँ से 'पोमचा' मँगवा देने की प्रार्थना करनेवाली कन्या का गान हमे राजस्थानी गृह-जीवन मे ले जाता है। 'लूहर' नामक लोक-नृत्य मे शामिल होने के लिए उस की उत्सुकता देखते ही बनती है। 'माँ, लूहर गाती हुई मै नाचूँ, तब प्रसन्न हो कर मुझे लड्डू देना'—गीत के मूल-स्वर सुनने के लिए हमारा हृदय उछल पड़ता है।

विवाह-गान मे घोड़ी का गीत एक विशेष तरग का परिचायक है, 'हे घोड़ी, इन्द्र घहरा उठा। तू धीमे-धीमे चल। हे घोड़ी, चौमासा लग आया, तू हलके-हलके चल। दूलहे का पिता घोडी का मोल कर रहा है और माँ देखने को आती है।' बनड़ो (वधू) का गीत अलग अपना रंग जमाये हुए है, 'कच्ची दाख की बेल के नीचे खड़ी बनड़ो पान चबाती और फूल सूँघती है। यह अपने पिता से बिनती करती है कि बाबा जो, देश के बजाय भले ही परदेस मे देना, पर वर मेरी जोड़ी का देखना।'

यो राजस्थानी गीतों के कितने ही संग्रह कलकत्तासे प्रकाशित हो चुके है। जयपुर से भी कुछ संग्रह निकले हैं। श्रीजगदीशसिंह

गहलौत द्वारा प्रकाशित 'मारवाड के ग्राम-गीत' अन्य सब सग्रहो के मुकाबिले मे मुझे अत्यन्त पसन्द आया था। और अब यह नया प्रयास सब से बाजी ले गया है।

श्रीसूर्यकरण पारीकका देहावसान हो चुका है। अपने अन्य सम्पादित ग्रन्थो के साथ और इस लोकगीत-संपादनके साथ तो उनका नाम कभी मरने का नहीं।

एक अग्रगामी पत्रकार

भारतीय स्वाधीनता के इतिहास मे स्वर्गीय रामानन्द चट्टोपाध्याय का नाम सुनहरी अक्षरों मे लिखने योग्य है। 'प्रवासी', 'माडर्न रिव्यु' और 'विशाल-भारत' के संचालन के रूप मे उन्हे सदैव यह ध्यान रहता था कि किस प्रकार देश को प्रगति-पथ पर अग्रसर किया जाय। 'प्रवासी' और 'माडर्न रिव्यु' के सम्पादन का दायित्व तो वे स्वयं ही अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक निभाते रहे।

'विशाल-भारत' का सम्पादन-भार बनारसीदास चतुर्वेदी को सौपते हुए उन्होंने सारी स्थिति को खूब तोल लिया था और यद्यपि वे हिंदी के उज्ज्वल भविष्य के प्रति बहुत उदार थे, फिर भी प्रायः यह प्रश्न ले बैठते थे कि क्यो न बगला को ही राष्ट्रभाषा के रूप में अपना लिया जाय। उनका यह मत केवल बगला साहित्य की सम्पन्नता का प्रतीक था और वे अपनी मातृभाषा की साहित्यिक प्रगति की प्रशंसा करते कभी थकते नहीं थे।

'सन् सत्तावन के ग़दर के कोई आठ वर्ष पश्चात् मेरा जन्म हुआ था और इस बात का मुझे गर्व रहेगा', सन् १९३४ में प्रथम भेंट के अवसर पर रामानन्द बाबू कह उठे थे।

मैंने जरा झिझकते हुए कहा, 'इस हिसाब से मेरा जन्म सन् सत्तावन के गदर के कोई इकावन वर्ष पश्चात् हुआ।'

'तब तो तुम 'माडर्न रिव्यु' से आयु मे एक वर्ष छोटे हो', रामानन्द बाबू ने जरा गम्भीर हो कर कहा। जनवरी १६०७ मे 'माडर्न रिव्यु' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ था।

मैंने कहा, 'माडर्न रिव्यु' मै बहुत दिनों से पढ़ता आ रहा हूँ। इसका मुझ पर कुछ इतना रोब रहा है कि इसमे लिखने की बात तो मैं सोच ही नहीं सका।'

'रोब तो होगा ही', वे कह उठे, 'क्योंकि आयु मे तुम उससे छोटे हो, खैर, अब उसके रोब का विचार छोड़ कर कुछ अवश्य लिख डालो।'

'माडर्न रिव्यु' मे लिखने का निमंत्रण पा कर मै पुलकित हो गया। यद्यपि यह भय बराबर बना रहा कि कैसे लिखूं, क्या लिखूं।

जब मैं दोबारा उनमें मिलने गया, तो उन्होंने हँस कर कहा, 'मैं 'विशाल भारत' मे तुम्हारे लेखों का प्रकाशन रुकवा सकता हूँ, यह तो तुम जानते हो।'

'तो जरूर रुकवा दीजिए', मैंने हँस कर बढ़ावा दिया, 'चौबेजी के तकाजे से तो छुट्टी मिल जायगी।'

'तो वचन दो कि तुम 'माडर्न रिव्यु' के लिए अवश्य लिखोगे और शीघ्र ही,' वे गम्भीर होकर बोले।

मैंने कहा, मै 'माडर्न रिव्यु' के लिए लिखना तो चाहता हूँ, पर सोचता हूँ, जो रस हिंदी मे प्रस्तुतकर सकता हूं वह अंगरेजी मे भी सम्भव हो सकेगा या नहीं।'

उन्होंने हँसकर कहा, 'विशाल-भारत' में तुम्हारे लेखों का प्रकाशन देख कर मैं बहुत दिनों से सोच रहा था कि उन्हे 'माडर्न रिव्यु' के लिए भी उपलब्ध किया जाय। एक बार मैंने बना-

रसीदास चतुर्वेदी से तुम्हारा पता भी मंगवाया था।'

'मै यत्न अवश्य करूंगा कि 'माडर्न रिव्यु' के लिए भी कुछ लिख सकूं,' मैंने साहसपूर्वक कहा, 'शायद लिखते-लिखते लिखना आ जाय।'

एक लेख, फिर दूसरा, तीसरा, चौथा, पॉचवॉ--इस प्रकार अनेक लेख मैने 'माडर्न रिव्यु' के लिए लिखे और हर बार मुझे यों लगता कि एक नई ही मंज़िल तक पहुचना चाहिए, जिससे रामानन्द बाबू लेख को पसन्द कर सके।

मेरे अनेक मित्र प्राय. यह सोचते कि मैंने रामानन्द बाबू पर कोई जादू कर रखा है। एक दो का तो यह ख्याल था कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सिफारिश-द्वारा मैने यह चाल चली है।

मुझे याद है कि किस प्रकार लेख के पहुँचते ही रामानन्द बाबू समय निकाल कर उसे पढ़ते और स्वयं हाथ से लिखे हुए पत्र द्वारा उसकी पहुँच का समाचार भेजते और लिखते कि किस अंक में जा रहा है। कई बार तो काफी लम्बा पत्र आता और वे मेरी यात्राओं की प्रगति पर हर्ष प्रकट करते।

हॉ, एक बात तो मै भूल ही रहा हूॅ। प्रथम भेट के अवसर पर मैंने उनसे कहा था कि उनके कितने सुपुत्र है। उन्होंने केदार और अशोक का नाम लिया। मैने हॅस कर कहा, 'केदार, अशोक और देवेन्द्र। दो से तीन हो जांय तो क्या हर्ज है?'

उनका चेहरा एकदम खिल उठा, बोले, 'यही सही, यह कुछ बुरा थोड़ी है कि किसी को पाला-पोसा पुत्र मुफ्त मे मिल जाय।'

अन्तिम दिनों तक उनका पितृ-रूप ही मेरे मानस-पटल पर अंकित होता चला गया। संस्कृति और कला के अग्रदूत के रूप मे तो उनका चित्र मेरे सम्मुख उपस्थित रहता ही था। पर इस चित्र की कौटुम्बिक रूपरेखा को भला मै कैसे भुला सकता

हूं ? स्वाधीनता-संग्राम के सफल सिपाही के रूप मे भी रामानन्द बाबू का व्यक्तित्व इतिहास की वस्तु बन चुका है। उधर से प्रतिकूल युक्तियां दी जा रही है कि भारत की स्वाधीनता सम्भव नही, इधर से यह अग्रगामी पत्रकार अपनी सम्पादकीय टिप्पणियो मे बराबर उन युक्तियो का खण्डन किये जा रहा है।

गुरुदेव के मुख से मैंने अनेक बार रामानन्द बाबू की प्रशसा सुनी थी। एक बार उन्होंने कहा था, 'रामानन्द बाबू ने 'माडर्न रिव्यु' द्वारा विश्व की अंगरेजी भाषी-जनता से मेरा परिचय न कराया होता तो शायद अनेक वर्षो तक विलियम बटलर यीट्स से मेरा परिचय न हो सकता।'

राजनीतिक नेता बनने की महत्त्वाकांक्षा ने रामानन्द बाबू को कभी छूआ तक नहीं था। एक बार कांग्रेस-अधिवेशन के अवसर पर उन्हे प्रेस-गैलरी मे बैठे देख कर नेताओं ने अनुरोध किया कि वे मंच पर आ जांय। उन्होने यही उत्तर दिया, 'मैं एक पत्रकार हूं और मेरा स्थान प्रेस-गैलरी ही मे है, मेरे पास प्रेस-कार्ड है।'

ये सदैव लोकमत के प्रहरी रहे। १९३६ मे जे० टी० सण्डरलैण्ड ने लिखा था, 'माडर्न रिव्यु' से मेरा परिचय पिछले ३० वर्ष के लगभग का है ''भारत के सम्बन्ध मे उससे बड़ी मूल्यवान जानकारी रहती है। अमरीका या ब्रिटेन मे ऐसा कोई पत्र नही जिसका क्षेत्र इतना व्यापक हो और जो इतने सही, विद्वत्तापूर्ण ढग से विश्व-समस्याओ पर प्रकाश डालता हो।'

३० सितम्बर १९४३ के दिन भारत के इस अग्रगामी पत्रकार ने देश के साथ अपने स्थूल सम्बध का अन्त कर दिया। उस समय उसकी आयु ७८ वर्ष की थी। वस्तुतः रामानन्द चट्टोपाध्याय का नाम लिये बिना भारतीय नवजागरण का इतिहास कभी पूर्ण नही हो सकता।
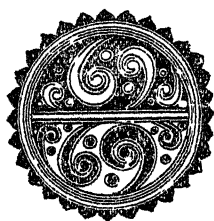
एक पंजाबी कवियित्री

यह बड़े आश्चर्य की बात है कि कोई कवि एकदम रूढ़िगत शैली की कविता की दलदल मे धंसने के बाद आराम से बाहर निकल आया। अन्य भाषाओं मे भी ऐसे कवियो के नाम गिनाये जा सकते होगे, पर मै एक पजाबी कवियित्री की चर्चा करना चाहता हू। शायद सब से पहले इस कवियित्री का नाम बताने की मॉग की जायगी। इस सम्बन्ध मे अभी इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिन दिनो उसे रूढ़िगत शैली प्रिय थी उस का नाम भी रूढ़िगत था। पर जब वह समस्त बन्धन तोड़ कर मुक्त वातावरण मे सॉस लेने लगी तो उसने अपने नाम मे भी सुधार कर लिया।

अमृत कौर—यही उस कविथित्री का नाम था, जब मुझे उस का प्रथम कविता-संग्रह देखने को मिला। इस संग्रह का नाम भी रूढ़िगत था, 'अमृत लहरी,' अर्थात् अमृत की लहरे अथवा कवियित्री अमृतकौर की, कविताएं। यह नामकरण कुछ ऐसा ही था जैसे कोई कहे 'बैताल पचीसी,' 'प्रेम पचीसी,' 'प्रेम द्वादशी,' अथवा 'प्रेम पूर्णिमा।'

इस कवियित्री का नया नाम है 'अमृत प्रीतम ।' वस्तुत अमृतकौर से अमृताप्रीतम की मजिल तक पहुचते इस प्रगतिशील पंजाबी कवियित्री को बहुत अधिक समय नहीं लगा था। यहाँ इतना और बता देना आवश्यक होगा कि आरम्भ मे जब इस कवियित्री की कविता नये नाम के साथ एक प्रसिद्ध पजाबी पत्रिका मे प्रकाशित हुई तो मुझे कुछ-कुछ झु झलाहट अवश्य हुई थी। क्योंकि मन का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि बने-बनाये चित्र मे थोडा बहुत परिवर्त्तन भी अखरता है। मुझे याद है मैंने स्वयं पजाबी भाषा की इस लोकप्रिय कवियित्री से कहा था कि इस प्रकार नाम बदलना उचित नहीं। पर वह अपने निश्चय पर दृढ रही। मैंने बहुत कहा कि लोग कही उसे प्रसिद्ध चित्रलेखा अमृतशेरगिल के नाम का अनुकरण समझ कर हंस न दें। वह सामने हंस केवल मुसकरा कर रह गई। मैंने इस कवियित्री के पति महोदय सरदार प्रीतमसिंह से भी कहा कि वे कवियित्री महोदया को समझाये। वे भी मुसकरा कर रह गये। मैंने समझ लिया कि अब यही नाम चलेगा। अत मैंने अपने कानों को इसी श्रुति-मधुर नाम का अभ्यस्त कर लिया।

नाम बदलने से पूर्व ही इस कवियित्री की शैली मे परिवर्त्तन आ चुका था। उसने अपनी वेश-भूषा भी बहुत कुछ बदल ली थी। जहां पहले उसके फोटोग्राफ को देख कर अधिक-से-अधिक उसे मध्यश्रेणी की कुलवधु कहा जा सकता था, वहां इस नये वेश मे, विशेष रूप से केश-विन्यास की दृष्टि से, उसे एकदम उच्च-श्रेणी की महिला कहने पर मजबूर होना पडता था।

शायद यहा यह आपत्ति की जाय कि इस कवियित्री महोदया की कविता के सम्बन्ध मे अधिक न कह कर इधर-उधर की बाते क्यो कही जा रही है। इस के उत्तर मे केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि किसी कवि अथवा कवियित्री की मान-

सिक पृष्ठभूमि को समझने मे ये सब बाते आवश्यक होती हैं।

इन्हीं दिनो इस कवियित्री की एक कविता प्रसिद्ध पंजाबी पत्रिका 'प्रीत-लड़ी' मे प्रकाशित हुई है जिसे यहां उद्धृत करने का मोह संवरण नही किया जा सकता—

मुशकला दे चीरा नाल लकीरीयां हथ्था दा वचन
मेरी उमर तों वी लम्मी है मेरी वफ़ा दी लकीर
तुसी रोज पुच्छ दे हो मेरी वफ़ा दी उमर
प्रीत दा सच्चा हरफ कुच्छ कहिण दा मोहताज है ?
इश्क नूँ आदत न पाओ बोलण दी
अजे ताँ लोक-कन्नां नूँ सुनन दी जाच नहीं आई
लफ़ज़ां दी दौलत बिना वी, वफ़ा है अमीर ।
मेरे स्वास ता महिमान ने मेरे जिस्म दे
जा सकदे ने कदे वी
पर मिट नहीं सकदा कदे
तेरी मेरी प्रीत दा, समिया दी हिक्क ते जो पै चुक्का है चीर ।
हीर किसे लैला दी नकल नहीं
न मजनू किसे राँझे दी रीस
इश्क़ कदे तारीख़ नूँ दोहरांदा नही
एहदा हर सफा हुन्दा है बेनज़ीर ।
तलिया नूँ छेक रहे ने
पोटया नूँ विन्ह रहे ने मुश्कला दे तीर
पर विन्हिया तलियां दे कण्ढे
आस इक्क अगडाई लै रही है ।
किसे अरग़वानी सवेर दी कसम
झवां दीया लहरा नही मेरा अख़ीर ।
मुश्कलां दे चीरा नाल लकीरिया हथ्थां दा वचन,
मेरी उमर तों वी लम्मी है मेरी वफ़ा दी लकीर ।

'कठिनाइयों द्वारा चिरते रहने के कारण रेखायुक्त हाथों का वचन—

मेरी आयु से भी लम्बी है मेरी विश्वासपात्रता की रेखा
तुम प्रति दिन पूछते हो मेरी विश्वासपात्रता की आयु
क्या प्रीति के सत्य अक्षर कुछ बताने के मोहताज है ?
इश्क को कुछ कहने का अभ्यस्त मत बनाओ
अभी जनता के कानों को कुछ सुनने की परख नही आई
शब्दों के वैभव के बिना भी विश्वासपात्रता सम्पन्न है।
मेरे श्वास तो अतिथि है मेरे शरीर के
कभी भी जा सकते है
पर मिट नही सकता कभी
तेरी मेरी प्रीति का, युगों के वक्षस्थल पर पड़ा हुआ चीरा!
हीर किसी लैला की नकल नहीं
न मजनूँ है किसी राँझे की अनुकरण-प्रवृत्ति
इश्क कभी इतिहास को दोहराता नहीं
इस का तो प्रत्येक पृष्ठ अद्वितीय होता है।
तलवो मे सूराख़ कर रहे है
अगुलियों के पोरो को बींध रहे है कठिनाइयो के तीर
पर बिंधे हुए तलवों के किनारे
आशा एक अंगडाई ले रही है।
कठिनाइयो द्वारा चिरते रहने के कारण रेखायुक्त हाथों का वचन—
मेरी आयु से भी लम्बी है मेरी विश्वासपात्रता की रेखा।'

मुझे अमृता प्रीतम की अनेक कविताए पसन्द है। मैंने उन्हे बार-बार पढ़ा है और हर बार एक नया ही रस प्राप्त किया है।

देश के विभाजन से पूर्व अमृता प्रीतम का निवास-स्थान था लाहौर। अब वे दिल्ली आ गई है। पहले वे बहुत अधिक

लिखती थीं। क्योंकि उन्हे बहुत अवकाश था। बल्कि मुझे तो भय था कि कहीं अधिक लिखते रहने से उनकी लेखनी थक-हार कर लिखने से रह न जाय। पर अब उन का अवकाश छिन गया, और वे परिश्रम करने के लिए मजबूर हैं। एक दबी-दबी-सी पुकार च्योंटी की भाँति रींगती रहती है—एक वेदना, जो किसी भी उच्च-कोटि के कलाकार की सृजन-शक्ति को विकास-पथ की ओर अग्रसर कर सकती है।

अमृता प्रीतम आजकल कुछ कम ही लिख पाती है। इसे मैं एक शुभ लक्षण समझ कर इस का स्वागत करता हूँ।

अमृत शेरगिल

चित्रलेखा अमृत की मुसकान मुझे सदैव प्रिय रहेगी। आज अमृत जीवित नही। पर उसकी मुसकान आज भी उपलब्ध है। उसका चित्र मेरे सम्मुख है। इसे कैमरामैन का कौशल कहना होगा कि किस प्रकार उसने इस सुकेशिनी के मुख पर ठीक मुसकान प्रस्तुत कर दी जो उस समय अमृत के ओठो पर नाच उठी थी, जब मैने सर्व-प्रथम सन् १६३६ मे उसे शिमला मे समर हिल पर वयोवृद्ध और चिन्तनशील पिता सरदार उमरायोसिंह शेरगिल के निवास-स्थान पर देखा था।

'अमृत के चित्र तुम्हे कैसे लगते है?' उसके पिता ने पूछ लिया।

'मेरे लिए इनमे बड़ी नवीनता है', मैने कहा, 'कुछ परवाह नहीं यदि अमृत की प्रतिभा का विकास योरोपीय प्रभावों का ऋणी है। उसने भारतीयता के मर्म को पा लिया है, ऐसा लगता है।'

शिमला मे अमृत की वह छोटी-सी चित्रशाला कितनी सुन्दर थी, जहा बैठकर उसने रग और कूची के अनेक प्रयोग

किये। थोडे ही समय मे अमृत ने भारत के चित्रकारो के सामने एक चुनौती उपस्थित की, क्योंकि उसे अपने चिन्तन की पृष्ठभूमि मे एक वयोवृद्ध भारतीय पिता का ज्ञान उपलब्ध था।

अमृत ने मुझे स्वय बतलाया था कि किस प्रकार सन् १९३४ मे, जब वह अभी भारत मे पहुची ही थी, शिमला की एक प्रदर्शिनी मे उसके एक चित्र पर पुरस्कार दिया गया। पर यह पुरस्कार एक ऐसे चित्र पर दिया गया था जो स्वयं अमृत की दृष्टि मे इतना उत्कृष्ट नहीं था। उसने अपने उस चित्र का अपमान समझा जिसे वह अपना सबसे बढ़िया चित्र समझती थी। अत उसने प्रदर्शिनी-समिति को पुरस्कार की रकम लौटा दी। उसे अपनी तूलिका मे कितना विश्वास है, यह बात मैने उसी समय समझ ली थी।

'अमृत, तुम्हारा जन्म कहा हुआ था?' मैने पूछ लिया।

'हंगरी की राजधानी बूदापस्त मे,' वह बोली, 'सन् १९१३ मे मेरा जन्म हुआ था।'

मैने उछल कर कहा, 'अमृत, तुम मुझ से पूरे पांच वर्ष छोटी हो।'

'मैं छोटी ही सही,' अमृत फिर कह उठी, 'मुझे सदैव ऐसा लगता है कि मै सदा से चित्र खींचती आई हूँ।'

'तब तो तुम बडी हो, अमृत।'

'चित्रशाला के अनुभव मे अवश्य बड़ी हूं।'

सन् १९३६ मे दिल्ली की आल इण्डिया फाइन आर्ट्स ऐंड क्राफ्ट्स सोसाइटी ने अमृत के एक चित्र पर पुरस्कार दिया। इसी वर्ष बम्बई की फाइन आर्ट्स सोसाइटी ने उनके 'कुछ हिन्दुस्तानी लडकियां' शीर्षक चित्र को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया और, इस पर स्वर्ण-पदक दिया। इन्हीं दिनों अमृत ने समस्त भारत की यात्रा की और अनेक स्थानो पर उसके चित्रों की

स्वतन्त्र प्रदर्शिनियों का प्रबन्ध किया गया। दक्षिण मे अजन्ता की गुफाओ मे जा कर जब उस ने भारत के प्रसिद्ध चित्रो का रसास्वादन किया तो उसे वस्तुत एक नयी प्रेरणा प्राप्त हुई।

अमृत को छोटे चित्रपट का उपयोग नापसन्द था। बड़ा चित्रपट प्रयोग मे लाने के कारण उस के लिए यह और भी सहज हो गया कि अपने चित्र मे भित्ति चित्रो के गुणों का समावेश दिखा सके। अजन्ता की यात्रा के पश्चात् अमृत की तूलिका मे जो परिवर्तन हुआ वह प्रत्यक्ष है। उन दिनो एक मित्र को लिखे हुए पत्रों मे उन्होंने यह बात अपनी लेखनी से भी स्पष्ट कर दी थी, 'मै बड़ी मेहनत कर रही हूं और एक मात्र बड़े चित्रपटो की तैयारी मे लगी हूं। विषय की दृष्टि से इनमे दक्षिण भारत की छाप है जो मैंने ग्रहण की है, और चित्र-व्यवस्था की दृष्टि से यह उस महान शिक्षा का, जिसे मैंने अजंता मे ग्रहण किया, प्रकट रूप है।'

बम्बई के प्रसिद्ध कलाविद् काले खंडेलवाला ने अमृत शेर-गिल के चित्रो का सुन्दर संग्रह प्रकाशित किया है। श्री खडेल वाला के मतानुसार, अमृत शेरगिल पर भारतीय मूर्त्तिकला का प्रभाव पडा था और वह उन के चित्रो की व्यवस्था मे लक्षित होता है। एक मित्र के नाम अपने एक पत्र मे उन्होने लिखा भी था, 'आकार के प्रति मुझे बड़ा आकर्षण है, यद्यपि रग की मै पूजा करती हूं।'

सन् १९४१ मे अमृत से मेरी भेट हुई। वे अपने नये चित्रों की प्रदर्शिनी में जुटी हुई थीं। अचानक बीमार पड़ गईं और एक दिन समाचार मिला कि वे चल बसी। युवावस्था ही मे भारत की इस चित्रलेखा की मृत्यु हो गई—यह दुखद घटना भारतीय कला के इतिहास में सदैव अत्यन्त विषाद के साथ स्मरण की जायगी।

झवेरचन्द मेघाणी

गुजराती कवि उमांशकर जोशी ने काठियावाड के प्रसिद्ध लोकगीत संग्रहकर्त्ता स्वर्गीय झवेरचन्द मेघाणी का रेखाचित्र उनके जीवनकाल मे ही प्रस्तुत किया था। मै उमाशंकर से होड़ नही लेना चाहता। मै तो मेघाणीजी के प्रति श्रद्धा के दो फूल भेंट कर रहा हूँ। उमाशंकर ने अपने रेखाचित्र के आरम्भ में ही यह बात स्पष्ट शब्दों मे कह दी थी, 'मेघाणी की सूरत-शक्ल देखने से पता चलता है, मानो इस शताब्दि मे आने के लिए उन्होने काफी प्रतीक्षा नहीं की। एक काठियावाडी योद्धा-सी भराव-दार काया और वैसी ही उनकी आखे है। पर वे नम्र इतने है कि अपने नौकर को भी भाई कह कर पुकारते है।'

मेघाणीजी का जन्म १८९७ मे हुआ था। उनके पिता एक पुलिस अधिकारी थे। इस बात का उल्लेख मै विशेष गर्व से करना चाहता हूँ कि उनका जन्म पंजाब के पहाड़ी प्रदेश मे हुआ था। बचपन पिता के साथ बिताया। अपने ग्रन्थ 'सोरठ तारा बहेतां पाणी' मे उन्होने इसकी चर्चा की है। जूनागढ़ और भाव-नगर के कालिजो मे उनकी शिक्षा हुई। आल्यू

कारखाने मे काम करने के विचार से वे कलकत्ता गये इसी धन्देके सम्बन्ध में इङ्गलैंड भी हो आये।

किस प्रकार आल्यूमीनियम के कारखाने से उन्होने एकदम गुजरात की पत्रकार-कला के क्षेत्र मे प्रवेश किया, इसका श्रेय 'सौराष्ट्र' पत्र के अधिपति श्रीअमृतलाल सेठ को है। फिर तो मेघाणीजी काठियावाड़ में ही डट गये।

काठियावाड मेघाणीजी को खूब रास आया। यहा उन्होने लोक-साहित्य को लिपिबद्ध करने का कार्य भी अपने ऊपर ले लिया। इस क्षेत्र मे, उनकी सेवाओं के लिए उन्हे 'गलियारा पुरस्कार' भी प्राप्त हुआ। उनके 'रढियाली रात' 'चुन्दड़ी', सौराष्ट्र नी रसधार,' सरीखे लोकगीत-संग्रह बेजोड है।

मेघाणीजी ने अनेक कवितायें लिखीं। उनके 'जागो जग ना क्षुधार्त्त' और 'कवि, तमे केम गमे' शीर्षक गान गुजरात मे बहुत लोकप्रिय है। सन् १९३० मे सत्याग्रह आंदोलन मे उन्हे दो वर्ष की सजा सुनाई गई तो उन्होंने भरी कचहरी मे मैजिस्ट्रेट के सम्मुख अपना गान 'हजारों वर्ष नी जूनी अमारी वेदनाओ' इतने करुण-स्वरो मे गा सुनाया था कि स्वय मैजिस्ट्रेट की आखो मे भी अश्रु आ गये थे।

जब गाधीजी दूसरी गोलमेज कान्फ्रेंस मे सम्मिलित होने के लिए जाने लगे तो मेघाणीजी ने एक कविता लिखी, 'छेल्लो कटोरो झेर नो आ पी जजे बापू!' इस कविताके सम्बन्ध मे स्वय बापू ने स्वीकार किया था—'मेरे मन के भाव बिल्कुल ऐसे ही थे जैसे इस कविता मे।'

मेघाणी जी एक कहानी-लेखक के रूप मे भी प्रसिद्ध हुए। 'समरांगण' उन का ऐतिहासिक उपन्यास है। 'वे विशाल' उनका एक और उपन्यास है। पर यह बात विशेष जोर देकर कही जा सकती है कि अपनी मौलिक कृतियों के लिए नहीं, बल्कि

लोक-साहित्य के संरक्षण के लिए ही मेघाणीजी अमर हो गये। वैसे काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास, विवेचना, प्रवास, जीवनी, अनुसन्धान, इत्यादि के कुल मिला कर पचास-साठ ग्रन्थ मेघाणीजी ने अपनी लेखनी द्वारा गुजराती साहित्य की भेंट किये।

मेघाणीजी की लोकगीत-सम्बन्धी तपस्या भारतीय लोक-साहित्य के इतिहास की चिरस्मरणीय वस्तु है।

कला की परख

मेरे हाथ मे इतनी शक्ति नहीं कि तूलिका और रंगो की सहायता से कोई चित्र प्रस्तुत कर सकूं। पर यह बात नहीं कि मै चित्रकला को समझता ही नही। एक रंग के समीप दूसरे रग को किस प्रकार स्नेह या सम्मान प्रकट करना चाहिए, यह बात मैंने स्वय बडे-बडे चित्रशिल्पियो के मुख से सुनी है और इसे समझने का यत्न किया है। अनेक पुराने और नये चित्रो को परखते समय मुझे कोई झुझलाहट नहीं होती। जो चित्र मुझ से बात कर सके, स्वयं मुझे अपना मर्म बता सके, वही चित्र मुझे पसन्द आता है। यह और बात है कि कोई चित्र झट अपनी बात कह देता है और कोई ज़रा रुक-रुक कर, जैसे यह कह रहा हो कि थोड़ा तुम मेरे समीप आओ, थोडा मै तुम्हारे समीप आऊंगा।

जीवन और प्रकृति का अध्ययन किये बिना कोई लाख कूंची चलाये, लाख रग उठा-उठा कर रखे, पर बात नहीं बनती। जीवन और प्रकृति का अध्ययन तो मैंने भी किया है, कूंची और रंग के प्रयोग नहीं किये। किसी को चित्र अंकित करते देख कर

मन पछताने लगता है, मैने भी क्यों न कूंची और रङ्ग का अभ्यास किया ? इस झुंझलाहट मे मैं कला के समीप चला आता हूं, जैसे दिनो का पथ क्षणो मे तै कर लिया गया हो।

अभी उस दिन एक आर्ट स्कूल के विद्यार्थी से भेंट हुई। मैने पूछा, 'अपने यहाँ की शिक्षा पद्धति के सम्बन्ध मे कुछ बताओ।'

वह बोला, 'हमारे यहाँ तो बस नकल करना ही सिखाया जाता है।'

'नकल करना ?' मैने हंस कर पूछा

'जी हाँ' 'वह बोला,' 'सुनिये, छोटी-छोटी चीजों की नकल का अभ्यास हो चुकने पर हमारे अध्यापक महोदय अपने गुरु के चित्र हमारे सामने रख देते हैं। बहुत दिनों तक यही अभ्यास चलता है। इन चित्रो की नकल का काम शेष नही रह जाता तो अध्यापक महोदय अपनी कूंची के करिश्मे हमारे सम्मुख ला रखते है। कहते है—लीजिए अब हू-ब-हू ऐसे ही चित्र बनाइए। यह नकल का क्रम कभी खत्म नही होता। जैसे मौलिकता व्यर्थ हो।'

जाने यह बात कितने आर्ट-स्कूलो के सम्बन्ध मे ठीक होगी। मै चित्रकला का विद्यार्थी होता तो क्या करता ? यह प्रश्न मन में उठता है। मै तो पेड़-पौधों और पशु-पक्षियों को समीप से देखता, स्थावर और जगम का पूरा-पूरा अध्ययन करता। पर क्या इतने से ही मै एक महान कलाकार बन जाता ?

एक बार श्रीअवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने अनुभव का मर्म प्रस्तुत करते हुए बताया था, 'मनुष्य को मनुष्य के रूप मे, वृक्षो को वृक्षों के रूप मे देख कर उन की नकल कर के ही प्रकृति का अध्ययन किया जाना चाहिए, यह बात मानने का अब प्रश्न ही नहीं उठता। क्योकि नकल करना मात्र तो कला

नही है । कला है प्रकृति की यथार्थ व्याख्या, अर्थात् प्रकृति का अध्ययन कर के उसे जैसा समझा है, मेरे मन ने उसे जिस रूप मे ग्रहण किया है, उसी की सरल सुन्दर छवि प्रस्तुत करना ही कलाकार की हैसियत से मेरा उद्देश्य होना चाहिए। मनुष्य के मनुष्यत्व, पशु के पशुत्व और पुष्प की भीतरी बात से ही कलाकार को सरोकार है। चर्मचक्षु से जो कुछ दिखाई पड़ता है और जो उस से नही दिखाई पड़ता है, मनश्चक्षु द्वारा उस का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर के कलाकार अपने निपुण हाथो से कागज लेखनी अथवा तूलिका से या पेंसिल, कंठस्वर अथवा अंग-भंगिमा द्वारा उसे व्यक्त करता है।'

जो कला दर्शक, श्रोता अथवा पाठक के मन को आकर्षित नही कर पाती, उस मे अवश्य कहीं कुछ कमी रह गई है—यह बात झट मन में उठती है। क्योंकि कलाकार का दायित्व केवल यही नही कि वह अपने भावो की अभिव्यक्ति करे। इस बात का ध्यान तो उसे रखना ही होगा कि उस के मन की बात दूसरो के मन तक जा पहुचे।

श्रीअवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही तो कहा है, 'ऐसे कलाकार कितने है जिनके रूप-प्रदर्शन को देख कर कहा जा सके—खुलिलो मनेर द्वार, न लागे कबाट—अर्थात् मन का द्वार खुल गया, अब यह बन्द नही हो सकता।' संसार मे अनेक दिनो से अनेक कलाकार चित्र अंकित करते आ रहे है, मूर्त्ति बनाते आ रहे हैं। यदि संसार के सभी कलाकार इकट्ठे हो जॉय तो कदाचित् कलकत्ता जैसी महानगरी मे भी उनके लिए स्थान मिल सकेगा या नहीं, इस मे सन्देह है। यदि समूचे कैन्वस, कागज, पेंसिल, तूलिका, पत्थर आदि जिन वस्तुओं का व्यवहार कलाकारों ने अब तक किया है और कर रहे है, उन्हे एक स्थान पर जमा किया जाय तो हिमालय न सही, एक छोटा-मोटा पहाड़ अवश्य

बन जायगा। पर उन मे से कितने रंगे गये कैन्वस 'चित्र' कहलाने योग्य बन पाये है, कितने कलाकारों की कृतियो ने वस्तुत हमारे मन को आकर्षित किया है? गिनने पर इन को सख्या पचास तक भी पहुचती है या नही, इस मे भी मुझे तो सन्देह है। कलाकार यदि चित्र या सगीत मे, काव्य या अग-भगिमा मे, अपने मन को केन्द्रीभूत नही कर सका तो उसका परिणाम वृथा है। उसकी कृति किसी के मन को आकर्षित नही कर सकेगी। मन को केन्द्रीभूत करने के लिए कलाकार को स्वभाव की शरण मे जाना होगा। वह जो कुछ निर्माण करना चाहता है उसके स्वभाव को समझे बिना उसका समस्त परिश्रम व्यर्थ चला जाता है। इतना ईमानदार तो कलाकार को होना ही चाहिए कि वह अपने चारो ओर की वस्तुओं के साथ अपने मन को मिलाना न भूले, क्योंकि इसके बिना प्रकृति उसकी पकड मे नहीं आयेगी। यहां कला भी योग के स्तर तक जा पहुचती है, क्योंकि कलाकार को चित्त-वृत्ति का निरोध करना होता है। मन जब स्थिर सरोवर के समान स्वच्छता प्राप्त करता है, तभी प्रकृति का प्रतिबिम्ब हमारे मन पर पड़ता है।'

यहा यह बात तो स्पष्ट हो गई कि कला का अर्थ अनुकरण या नकल नही। कला का अर्थ व्याख्या के अतिरिक्त और हो ही नही सकता। कलाकार यदि अन्तर की बात प्रकट करने मे असमर्थ रहता है तो उसे कलाकार की पदवी मिल ही नहीं सकती। प्रकृति के अन्दर तक पहुँच कर हमारे सम्मुख उसे अंकित कर दिखाने के उत्तरदायित्व से वह कभी बरी नहीं हो सकता, जब हमारा मन उस बात को उसकी कलाकृति मे देख ले। दूसरे शब्दो में इसे मन का विकास भी कह सकते है। क्योंकि जब कलाकार विकास-मार्ग की अनेक मंज़िले तै करता हुआ उस पड़ाव तक आ पहुचता है तो उसमें इतनी शक्ति आ जाती

है कि सुन्दर-असुन्दर के अन्तर तक पहुँच कर कोई बात पैदा कर सके। श्रीअवनीन्द्रनाथ ठाकुर के कथनानुसार, 'कलाकार' के मन का पता कला मे चलता है। इसीलिए हम कला का आदर करते है। नही तो हिमालय पहाड़ को कई इंच के चतुष्कोण फ्रेम मे बंधवा कर दीवार पर लटका रखने मे मुझे क्या लाभ है? हमे तो हिमालय के मन की बात की ही आवश्यकता है। कलाकार का तो यही काम है कि वह अपने मन से पार्थिव वस्तु के मन की बात को समझे और इस बात को हमारे मन मे अंकित कर दे।'

कलाकार काम-धाम, खाने और घर-द्वार की फिक्र छोड़ कर केवल प्रकृति के खेल मे ही जीवन खपा दे, यह बात नहीं। पर उसे प्रकृति के लिए अपने मन का द्वार खुला रखना चाहिए ताकि जब कभी प्रकृति स्वयं कृपा पूर्वक कलाकार के यहां आये तो उसके मन के द्वार को बन्द पा कर लौट न जाय।

प्रकृति के साथ मानव-स्वभाव की मित्रता का उल्लेख करते हुए श्रीअवनीन्द्रनाथ ठाकुर लिखते हैं, 'हम आज के ज़माने मे यूनानी कलाकारो की बनाई हुई जिन पत्थर की मूर्त्तियो को देख कर दंग रह जाते हैं, वे प्रकृति के साथ मानव-मन की मित्रता का परिणाम हैं। जिन कलाकारों ने इन अचरज मे डालने वाली मूर्त्तियों का निर्माण किया था, वे हवा पीकर, पुष्प-मधु खाकर जीवन धारण नहीं करते थे। उन्हे भी अपने बाल-बच्चों की गुज़र-बसर की फिक्र करनी पड़ती थी। पर इन सब के बावजूद उन्हे ये मूर्त्तिया कहा और कैसे मिलीं? क्या उस समय मनुष्य इसी तरह का सुन्दर था, या ये उसकी मनघढ़न्त मूर्त्तियां है? यूनानी मूर्त्तिया मनुष्य का अनुकरण नही हैं, यह बात निश्चित है। वे किसी भी प्राचीन मूर्त्ति के अनुकरण पर भी नहीं बनी है, यह भी निश्चित् है। तब फिर उनका निर्माण कैसे हुआ? यूनानी कलाकारो ने अवश्य ही मानव-स्वभाव के

साथ मित्रता करना सीखा था, और उसी के फल-स्वरूप वे इन दुर्लभ कला-रत्नो के मालिक बन सके। इसी पारस की खोज मे आज हम संलग्न है। यूनानी जाति ने 'आयोलियन हार्प' का आविष्कार किया था। उसे वे अपने दरवाजो पर लटका रखते थे। वह वीणा इतनी विचित्र थी कि हवा के मामूली झकोरे के लगते ही इससे विचित्र सगीत झंकृत होने लगता था। कलाकार की मनोवीणा इसी प्रकार चारो ओर समस्वर से बधी होनी चाहिए, जिसमे स्वभाव के नाम मात्र स्पर्श से ही वह मुखरित हो उठे। वह काम-धन्धे मे हो, सुख मे हो, दु ख मे हो, पर उस की मनोवीणा सदा एक स्वर मे विश्व के साथ बंधी रहे, ताकि उस के झकोरे से या दु ख की पीडा से वह वायव्य वीणा की तरह सगीत झकृत कर सके। कलाकार जीविकोपार्जन की चेष्टा करे, पैसा कमाने के लिए उद्योग करे, किन्तु उसकी मनोवीणा सदा इस विशाल विश्व की भाव-तरंगो से झकृत होने के लिए मुक्त प्रस्तुत रहनी चाहिए।'

पिचत्तर वर्षीय वृद्ध शिल्पाचार्य श्रीअवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतीय कला के लिए जो साधना की है उस का उल्लेख करते हुए भविष्य का इतिहासज्ञ सदैव गर्व से सिर ऊ चा कर लेगा। कला की परख कैसे की जाय ? किस प्रकार देश को वास्तविक कला के पथ की ओर अग्रसर किया जाय ? इन प्रश्नों का उत्तर सहज नहीं। जो लोग यह समझते है कि बंगाल-स्कूल के कलाकारो के आचार्य का ध्यान सदैव अजन्ता की ओर रहता है और यही बात उन्होंने अपने शिष्यो मे भी पैदा कर दी, उन्हे श्री-अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की विचार-धारा के मर्म को समझना चाहिए। वस्तुत अनुकरण कभी भी उनका आदर्श नहीं रहा।

ठाकुर परिवार ने किस प्रकार भारतीय कला को आगे बढ़ाया, इस पर एक पुस्तक लिखी जा सकती है। अवनी बाबू

के भ्राता श्रीगगनेन्द्रनाथ ठाकुर के चित्र आज भी कितने नये प्रतीत होते है। 'सीढ़ियों मे भेंट' शीर्षक उनका चित्र वस्तुत. आधुनिक भारतीय चित्रों मे अद्वितीय है। आज गगन बाबू के चित्र दुर्लभ हैं। यद्यपि सुनने मे आया है कि कुछ दिन पहले तक गगन बाबू के चित्रों को उनके कुछ अबोध वशजों ने थोड़े थोड़े पैसों मे बेच डाला था। गगन बाबू के चित्रों का एक अच्छा संग्रह अवश्य किया जाना चाहिए। आज भी उनके चित्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आत्मकथा मे उपलब्ध है। उनमे महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के साथ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का बचपन का चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने चित्रकला के क्षेत्र मे प्रवेश किया तो कुछ लोगों को यह बात बहुत विचित्र प्रतीत हुई। पर जब विदेशों में जाकर उन्होने अपने चित्र प्रदर्शिनियों मे रखे और कला के आलोचकों और आचार्यों ने इनकी भूरि-भूरि प्रशसा की तो देशवासियो को इतना विश्वास अवश्य आया कि गुरुदेव ने चित्र अंकित किये है अवश्य। उनके अनेक चित्र विश्वभारती पत्रिका मे प्रकाशित हो चुके थे। इनमे से सभी चित्र भले ही महत्वपूर्ण न हों, कुछ चित्र तो वस्तुत इतने प्राणमय है कि उन्हे भारतीय चित्रो मे स्थायी स्थान मिलना चाहिए।

कला की सब से बड़ी विशेषता है चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति। इसी के द्वारा कलाकार मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रहता है। परम सुन्दर की कोई बात उसकी कोई मगलमय क्रीड़ा—इस का स्पर्श तो कला मे रहना ही चाहिए।

श्री अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के शिष्यो मे श्रीनन्दलाल बसु का अद्वितीय स्थान है। नन्द बाबू के चित्रो मे मुझे एकतारा बजाते गायन का चित्र बहुत प्रिय है। जैसे यह गायन कह रहा हो—और सब बात मिथ्या, सगीत ही सत्य है।

नन्द बाबू के सहज सरल व्यक्तित्व की मुझ पर गहरी छाप पड़ी है। उनकी तूलिका कभी थमती नहीं। रग उनके हाथो मे आकर कितने सजग हो उठते है। इनके पीछे सदैव उनका व्यक्तित्व रहता है। वस्तु के स्वभाव को जाने बिना, गुण को समझे बिना, वे कभी तूलिका नही उठाते। उनका यह निश्चित मत है कि दीर्घकालीन अनुराग और अभ्यासवश कलाकार कभी-कभी उस अवस्था को प्राप्त हो सकता है, जिसमे वह वस्तु को देखते ही उसके स्वभाव का एक न-एक पहलू देख पाता है। पर इसके पीछे कितना अभ्यास चाहिये, कितनी साधना, इसके सम्बन्ध मे वे कहते है --'पहले कुछ दिन पेड़ को देखो, उसके पास जाकर बैठो—साझ, सवेरे, दोपहर अथवा आधी रात। पहले मन उकता जायगा। सोचोगे, पेड के भीतर कुछ भी नया नहीं है। लगेगा, जैसे वह पेड भी विरक्त हो उठा है। तब समझ मे आयगा कि तुमने अभी उसे बाहर से ही देखा है, अतरंग नहीं हुए हो। जब होओगे, तब जान पड़ेगा कि हठात् पेड़ बहुत भला लग रहा है—मानो बाते कर रहा हो। बातो की भाषा होगी—पेड का रग, उसकी गठन, शाखाओ और पत्तों का छन्द कभी हवा मे झूलता हुआ तो कभी प्रकाश मे फूलता हुआ। वस्तु का वास्तविक-रूप देखने के लिए जिन अन्य सारी वस्तुओ के साथ उसका सम्बन्ध का प्रभेद है, उसे तोड़ कर या जोड़कर वस्तु को देखना होगा।'

नन्द बाबू को अपने गुरु अवनीन्द्रनाथ का कथन सदैव याद रहता है—'गुरु कलाकार नहीं हो सकता, शिष्य कलाकार होकर ही आता है—.जिस तरह हवा, पानी और धूप लेकर हम अकुर को बड़ा कर सकते है। अकुर की सृष्टि कौन कर सकता है?' इसीलिए विद्यार्थियो मे नन्द बाबू की बहुत आस्था रहती है और उन्हे कला की वास्तविक भाषा समझाते समय उनका

हृदय सदैव सहानुभूति से भरा रहता है। मैने उनके अपने विद्यार्थियो को उनके इस गुण की प्रशसा करते सुना है। मुझे स्वयं भी इसका अनुभव है। यद्यपि मुझे तूलिका उठाने का अन्दाज बिल्कुल नही आता।

दो वर्ष हुए जब मै शान्तिनिकेतन गया और उनसे मिला, मैने कहा—'नन्द बाबू, क्या आप मुझे भी कलाकार बना सकते है।'

वे हँस कर बोले—'जो पहले ही कलाकार है उसे बताने की तो मुझे आवश्यकता नही दीखती।'

मै भी हस पडा। पलट कर मैने कहा—'नन्द बाबू, मेरा आशय तूलिका और रग की कला से है। क्या कभी मै यह सब सीख सकूंगा?'

'तुम जम कर यहां रह जाओ और बैठकर अभ्यास करो तो थोड़े ही दिनो मे यह सब खेल खेलने लगो।'

'पर जम कर कैसे रह जाऊ? मेरे पैर मे चक्कर है।'

'यह कहो कि पैर का चक्कर किसी एक कोने से बन्ध कर नही रहने देता। यह तुम्हे दूर-दूर ले जाता है—कला की तलाश मे।'

'यह तो सत्य है—कला मुझे प्रिय है, भले ही कोई मुझे कला का पारखी न समझे।'

'कला की परख और क्या होती है? केवल वस्तु मन को आन्दोलित नहीं करती,कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। अभी एक पेड़ मन को भा गया। चित्त प्रसन्न है, शायद इसी लिए पेड़ मन को भा गया। अथवा पेड़ सुन्दर है इसी से पेड़ मन को भा गया।'

मैंने कहा—'मैंने अनेक पेड़ देखे है। चित्र में अच्छा-सा पेड़ देख कर लगता है कि यह तो वही पेड़ है जिसे मैंने भी देखा था।'

पेड़ को लेकर अनेक बाते हुई । वे बोले--'कवि के साथ कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी विशेष शब्द, उपमा अथवा विचार का मोह उस पर हावी हो जाता है। इसी तरह कलाकार के साथ भी होता है। अच्छा लगा। आंकते समय उसने फूस की एक झोपड़ी जोड दी, पत्ते भी आके और आसमान के रंगीन बादलो की बहार भी दिखा दी--अर्थात् वह लक्ष्य-भ्रष्ट हो गया। देखी हुई चीजो के साथ जोड़ी हुई चीजो का मेल न बैठा सकने के कारण चित्र नष्ट हो गया। कला मे-लोभ इसी को कहते हैं, जिसका जन्म ठीक मात्रा-ज्ञान न होने के कारण होता है।'

इस के पश्चात नन्द बाबू ने चित्र मे रंग भरने की बात उठाई। बोले--'चित्र मे रंग भरने के सम्बन्ध मे मेरा विचार है कि धान के खेत की हरियाली तुम्हे इतनी अच्छी लगनी चाहिए, मानो तुम उस हरियाली मे डूब गये। तुम्हारी सत्ता के अन्तहीन परिचय के साथ यह तनिक-सा परिचय भी जुड गया। इसके बाद आकते समय तुम किस तरह हरा रग काम मे लाओगे। किस रग के साथ वह फबेगा, यह सब अन्तर के अनुभव से अपने आप ही तुम समझ जाओगे। तूलिका की नोक पर वह स्वयं ही आ जायगा। अवश्य ही इससे पहले प्रकृति को अच्छी तरह देखना चाहिए, उसकी नाडी पहचाननी चाहिए। इसी के साथ पुराने कलाकारो का कौशल भी समझ लेना चाहिए एक और भी बात है। देखो अलकारश-प्रधान चित्र मे कलाकार धान के खेत की हरियाली आकाश मे भी दिखा सकता है, मेघ मे भी और पहाड़ मे भी। उससे कोई दोप नही होता। कारण, प्रकृति के सामीप्य से कलाकार रग-रंग के सूक्ष्म सम्बन्ध को, गम्भीर आत्मीयता को सीख लेता है, अन्यथा वह स्वयं तो स्वाधीन-स्वतन्त्र है ही। यह पद्धति पुराने राजपूत मुगल अथवा पारसी चित्रों मे मिलती है। इससे रचना मे कोई कमी नहीं

आती। कुछ उत्कर्ष ही होता है।'

कला की परख के सम्बन्ध मे नन्द बाबू की एक और शक्ति मुझे सदैव प्रेरणा देती रहेगी—'किसी ने कहा—नवीन जौ की बालियों के शीर्ष देखने से ऐसा लगता है, मानो कोई टूटे पखो की तितली हो। किन्तु यथार्थ प्रतिभा-सम्पन्न कवि ने कहा-बालियो के शीर्ष देखने से ऐसा जान पड़ता है, मानो पर होते ही वे तितली की तरह उड जाती। एक ही उपमा है किन्तु देखने की भगी और कहने के कौशल मे कितना बे-हिसाब अन्तर है।'

कलाकार चाहे तो परम्परा को भी एक नये अर्थ से सम्पन्न कर सकता है। बल्कि यह कहना होगा कि उसे इस ओर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

तिङलिङ और प्रेमचन्द

मेरे मित्र के हाथ में पटना से प्रकाशित 'उदयन' का अक था। जिस पृष्ठ पर उसने दृष्टि जमा रखी थी, वहा लिखा था, '८ अक्तूबर १९३६, इसी दिन प्रेमचन्द हमे छोड़ गये थे।' उन्हो ने एक जगह कहा है, मैं साहित्य मे केवल दिलबस्तगी, सिर्फ मनोरंजन नही चाहता। साहित्य चटनी नहीं है। वैसे निरी चटनी से आप पेट भी कैसे भर सकते है? साहित्य राष्ट्र मे रक्त पैदा करने वाला अन्न है।' पत्रिका के अगले पृष्ठ पर एक कविता भी प्रकाशित हुई थी जिसमे स्वर्गीय प्रेमचन्द की स्मृति ही मुख्य विषय था।

मैं चाहता था कि प्रेमचन्द के साहित्य की चर्चा की जाय। पर हमारी चर्चा की गाडी दूसरी पटरी पर चल पड़ी। इस पत्रिका मे प्रकाशित एक लेख था—तिङ-लिङ और जनता का साहित्य। मैंने कहा, 'मुझे चीनी नाम बडे विचित्र प्रतीत होते है। लिन युतांग, जिनकी रचनाएं मैं अनेक वर्षों से पढ़ता आ रहा हूँ, अपने विचित्र नाम के कारण मुझे आज भी कुछ-कुछ अपरिचित से लगते हैं। लुहसुन का नाम भी मुझे अभी तक

खटकता है। और अब तिङ-लिङ की बात आ गई।'

यह बात मै छिपाना नहीं चाहता कि तिङ-लिङ का नाम मेरे लिए एकदम नया है और मै इतना भी तो न समझ सका कि यह किसी पुरुष का नाम है अथवा नारी का। अच्छा हुआ कि मेरा मित्र स्वय ही कह उठा, 'राबर्ट मेइन ने इस लेख के शुरू ही मे लिखा है--चीन पहुचते ही तिङ-लिङ से मिलना चाहता था, कारण लुहसुन के बाद के सभी उपन्यासकारो मे वही सर्वश्रेष्ठ लगती थी।'

मुझे यो लगा कि मै एक धर्मसकट से बच गया। मन-ही-मन मैने तिङ लिङ को प्रणाम किया और कल्पना की तूलिका से उसका चित्र अकित करने का यत्न करने लगा।

राबर्ट मेइन का लेख मुझे बहुत सुन्दर लगा। पता चला कि तिङलिङ की लम्बाई साढे चार फीट से ऊँची भरसक नहीं होगी पर वह बैठी हुई होती है तो बहुत ही लम्बी लगती है। युन्नान मे तिङलिङ का जन्म हुआ था और अधिकांश युन्नानियो की भाति उसकी मुखाकृति भावलेश-हीन लगती है। हॉ, उसको हँसी मे एक खास तरह की मधुरिमा होती है। दबे स्वर से और नीचे गले से बाते करना ही उसे प्रिय है, जैसे चेहरे या हाथो की भगिमा की कोई आवश्यकता न हो। नीला सूती कोट। नीला ही थैली-सा पाजामा। केवल हाथ, मुंह और गले की रेखाओ का ही अध्ययन किया जा सकता है। लगता है कि अपने अधिकाश उपन्यासो की नायिका वह स्वय ही है। राबर्ट मेइन ने सफल चित्रकार की तरह ये सब रेखाएं कुछ इस प्रकार अकित कर दी थी कि मुझे तिङलिङ की आकृति बहुत-कुछ जानी-पहचानी-सी लगने लगी।

मै फिर से प्रेमचन्द की चर्चा करना चाहता था। पर मेरे मित्र ने तिङलिङ की विचारधारा की ओर मेरा ध्यान खीचना

चाहा। अत मै सजग हो कर बैठ गया और मैने फैसला कर लिया कि चलो आज का दिन चीन की इस नीले कोट और नीले पाजामे वाली लेखिका के लिए ही अर्पण कर दिया जाना चाहिए।

राबर्ट मेइन के सम्मुख अपने विचार प्रकट करते हुए तिङलिङ ने कहा था, 'हमे आज जनता के लिए लिखना लाजिमी था और क्रान्ति के सिवा उस समय और किसी भी चीज़ का मूल्य न था आज असल काम है आम जनता को पुस्तको के पन्नो मे भरना--उनकी वास्तविक रहन-सहन का सधान करना। वह क्या सोचती है, कैसे सोचती है, क्या काम करती है, आपस मे कैसे प्रेम करती है, और सबसे ऊपर तो, कि वह कैसे लडती है, इस की खोज लेना, यह सब करना होगा वास्तविकता का दामन पकड कर, उसके पीछे दौड कर। कल्पना का आसरा पकडने से काम नहीं चलने का। यह सब करना होगा सच्ची अनुभूति के बल पर, दूसरे को समझ-बूझकर जनता के चरित्र के अध्ययन के आधार पर। जब तक आप काफी दिनो तक किसानों के साथ घुलमिल कर, उन्ही के बीच एक बन कर रह नही लेते, तब तक आप किसानो के बारे मे लिख नही सकते। और चूंकि चीन मे किसान ही सख्या मे अधिक है इसलिए उनके जीवन मे सम्मिलित हुए बिना आप चीन के बारे मे लिख नही सकते।'

मै कहना चाहता था कि भारत मे जो प्रेमचन्द कर गये, वही चीन मे तिङलिङ कर रही है। अच्छा रहता कि थोडी-बहुत चर्चा प्रेमचन्द पर भी हो पाती। पर मेरे मित्र ने फिर से तिङलिङ की विचार धारा की ओर सकेत करते हुए कहा, 'यहाँ से पढ़िए।'

तिङलिङ ने राबर्ट मेइन के सम्मुख अपने वक्तव्य मे कहा

था, 'किसानों के बारे मे जानने के लिए मेहनत करनी पड़ी है हम लोगों को, उनके बीच जाना पड़ा है, उनके दु:खो मे साझी होना पडा है। उनकी समस्या का शंघाई की समस्या से कोई मेल नही। है तो वे और भी नरम धातु के बने, पर मत पूछिये कि कागज़ की छाती पर उन्हे उतार लेना स्याही के लिए कितना कठिन, कितना कष्ट-साध्य है।'

तिङलिङ की रचनाएं पढ़ने के लिए मेरा मन उत्सुक हो उठा। मै देखना चाहता था कि उसने अपनी तूलिका द्वारा चीनी किसानो के कैसे चित्र प्रस्तुत किये है। अपने वक्तव्य मे उसने इस पर प्रकाश डाला था, 'मेरी पहले युग की रचनाएं एक तरह की निरन्तर दु:ख-गाथा थीं। कभी-कभार किसानो को ले कर जो लिखा था, उन रचनाओ को आज पढ़ने बैठती हूं तो समझ मे आता है कि उन्हे कितना गलत समझा था। लुहसुन ने उनके दोषो, त्रुटियो और अशिक्षा की बात कही है, सामन्ती अनुशासन के नीचे उनकी निष्करुण दासता की बात कही है। उनके समय मे यही कुछ था सचमुच, पर आज यह सत्य नही। किसानो को इतनी तेजी से होश आ रहा है कि विश्वास नही हो पाता। आज वे खूब अच्छी तरह जान गये हैं कि दुनिया मे उनके भी अधिकार है, कर्त्तव्य है। आज पुरानी सामन्ती-शक्ति के सामने सिर झुकाकर यन्त्रणाएं भोगते जाना उन्हे स्वीकार नही। वे ऐसी पृथ्वी की रचना कर रहे है, जहा मनुष्य की तरह जिया जा सकता है। उन्होंने पढ़ना सीखा है, सीख रहे है, हर गाँव की अपनी अध्ययन-मण्डली है। वे लिखना सीख रहे हैं। जितना मुझ से पार लगा है, मैने किसानो के बीच से तरुण लेखको को खोज निकालने मे समय लगाया है। सख्या मे तो अधिक नही पा सकी हूँ, पर जिन्हें पाया है, वे गुणी है।'

तिङलिङ ने यह बात स्पष्ट कर दी थी कि पहले वह यौवन के दिनों मेशंघाई की प्रेम कहानियाँ ही लिखती रही थी। उसकी पहुच चीनी किताबो तक बिल्कुल नही हो पाई थी। अपने वक्तव्य मे उसने यह भी कहा था कि शैली की खोज करते फिरना मुफ्त का सिरदर्द मोल लेना है, क्योंकि आज के लेखक को तो कुछ इस तरह लिखना चाहिए कि उसकी कृति आम-जनता का दर्पण बन जाय। वह पुरानी शैली को तोड़कर नई शैली की सृष्टि करना चाहती थी, पर इधर उसे इस बात का अनुभव होता चला गया कि शैली भी आम जनता ही जुटायेगी, उसी के छन्द और उसी की ध्वनि शैली की सृष्टि करेंगे।

तिङलिङ की इस बात को लेकर कि वर्तमान क्षण के लिए लिखी हुई रचना प्रचार कहलायेगी, हम बहुत देर तक विचार करते रहे। क्या सचमुच ऐसी रचना दीर्घस्थायी नही हो सकती? तिङलिङ के कथनानुसार इस रचना का एक निजी मूल्य होना चाहिए, क्योंकि उसका रचयिता यही क्षण है। एक ऐतिहासिक उपन्यास की रचना समय को लेकर की जाती है, समय का एक-एक स्मृति-फलक वहा इकट्ठा करना होता है, हर-हर घड़ी, हर-हर क्षण का चित्र, आम जनता की वीरता, दु ख-कष्ट और शोषण-दमन के हर-हर पहलू के आलेख्य की आवश्यकता होती है।

किस प्रकार पुरातन चीनी 'गीत-संग्रह', जिस मे ढाई हज़ार वर्ष के चीनी लोकगीत प्रस्तुत किये गये थे, पूरे का पूरा चीनी जनता के जीवित सम्पर्क की वस्तु नही रह पाया, किस प्रकार चीन, लोक-मानस की अनुभूति बदल गई है, जनता की अवस्था बदल गई है, यहां तक कि पुरानी परिभाषा को केवल पण्डित ही पढ़ सकते है, और किस प्रकार आज का चीन, अतीत के चीन से एकदम कट कर, एक नये 'गीत-सग्रह' की आवश्यकता

अनुभव कर रहा है--इस पर तिडलिड के विचार हमे बेहद पसन्द आये। नये गीत-सग्रह के कार्य मे सलग्न हो कर तिडलिङ ने देखा कि किसानों के गान असस्कृत, सहजात मिट्टी से और हृदय से स्वत बह निकले गान है--प्रेम के गान, मजदूरी के गान, पण्डितशाही और नौकरशाही को कोसने-सरापने के गान। अन्धे, बूढे कथाकार गवैये इन्हे गाते हैं। जो बात उनसे सीखी जा सकती है, वह किसी पुस्तक मे पढ़ने को नही मिलती। हर जिले और हर प्रदेश मे ये पेशेवर घुमक्कड़ गवैये मिलेगे। इन के साथ 'पाइया'—गिटार की तरह चार तारो का वाजा, भी रहता है। दूसरे साज़ भी साथ चलते हैं, साथ-साथ बजाये जाते हैं। घुटनो के नीचे एक समतल-सी वस्तु बाध लेते है और उस पर अंगुलियां ठकठका कर पाइया के साथ ताल देते है या कॉसे की खजडी पर ही ताल देते है। गाते समय देह की भगिमा या हिलना-डुलना आवश्यक नही होता। बस गवैया गान मे मग्न हो जाय, और दीर्घ-विलम्बित गान, अतीत के किसी वीर या राजा-महाराजा की अन्तहीन गाथा, साम्राज्य का पतन या युद्ध-विग्रह, अथवा महामारी इत्यादि का रोमांचकारी वर्णन सुनने वालो के सम्मुख एक सजीव चित्र प्रस्तुत कर दे, यह जरूर आवश्यक समझा जाता है। ये शत-शत गाथाएं बार-बार सुनने पर भी सुनने वालो का मन नही ऊबता। इधर इन कथको ने पुरातन गान के स्वरो मे अनेक नई गाथाए भी पिरो डाली है। उन्हे येनान मे विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया था और कितने हो शिक्षित चीनी युवक उनकी कला को सीखने मे सफल हो गये। शेसी प्रान्त मे कही भी कोई-न-कोई कथक अवश्य मिल जायगा। वही कॉसे की खंजड़ी, और वही चार तारो वाला 'पाइया'। आज ये कथक उन वीरों की गाथाएं भी गाते हैं, जिन्होने सुरगो के बीच लडाई की, जिन्होने बारूद से

जापानियो को उड़ा दिया। गाँव-गाँव घूमनेवाले इन अन्धे कथक गायकों का गान सुनकर बड़े-बड़े चीनी साहित्यकारो के माथे झुक जाते हैं।

राबर्ट मेइन ने इस चीनी लेखिका का रेखा-चित्र प्रस्तुत करते हुए तूलिका के अन्तिम स्पर्श इस प्रकार दिये थे,—'बाद को कालगन मे मैंने कितनी बार तिडलिड को देखा है, चाहे तो राह छोड कर उतरी जा रही है इस नीयत से कि भारत अथवा जिन देशो मे श्रेष्ठ सुन्दरियां जन्म लेती है, उन के बारे मे तर्क-वितर्क करे या जिन मित्रो से लगभग दस वर्षो तक भेट नहीं हुई, उन की खोज-खबर ले। पर आज भी उसके बारे मे मेरे मन मे यह धारणा रह गई है कि एक महिला ने अपना शेष जीवन किसानो के बीच काटना चाहा था, हो सकता है कि वह एक ऐसी अंधी कहानी-गायिका के रूप मे अपने सम्बन्ध मे कल्पना करती हो जिसका मन शेसी के तम्बू-छाये पहाड़ो-पहाडों मे भटक रहा है। मुझे तिडलिड का यह चित्र बेहद पसन्द आया और मै सोचने लगा कि किसी भी साहित्यकार का ऐसा ही चित्र होना चाहिए, क्योंकि 'स्वान्त सुखाय' का नहीं, यह युग तो 'बहुजनहिताय' का है।

'बहुजनहिताय' की बात तो प्रेमचन्द को भी सदैव प्रिय रही, मै अपने मित्र से कहना चाहता था। उस ने झट पत्रिका खोलकर नागार्जुन की 'प्रेमचन्द' शीर्षक कविता मेघ-गम्भीर स्वरों मे पढ़नी शुरू कर दी—

> अब तक भी हम हैं अस्त व्यस्त
> मुदित-मुख, निगड़ित चरण-हस्त
> उठ उठ कर भीतर से कण्ठों में
> टकराता है हृदयोद्‌गार
> आरती न सकते हैं उतार

युग को मुखरित करने वाले शब्दों के अनुपम शिल्पकार !

हे प्रेमचन्द

यह भूख प्यास

सर्दी-गर्मी

अपमान-ग्लानि

नाना अभाव-अभियोगों से यह नोक-झोंक

यह नाराज़ी

यह भोलापन

यह अपने को ठगने देना

यह गरजू हो कर बाह बेच देना सस्ते

हे अग्रज, इन से भली-भांति तुम परिचित थे

मालूम तुम्हे था हम कैसे थोडे मे मुर्भा जाते हैं

खिल जाते हैं थोडे में ही

था पता तुम्हे, कितना दुर्वह होता अक्षम के लिये भार

हे अन्तर्यामी, हे कथाकार !

गोबर महगू बलचनमा औ' चतुरी चमार—

सब छीन ले रहे स्वाधिकार

आगे बढ कर सब जूझ रहे

रहनुमा बन गये लाखों के

अपना त्रिशंकुपन छोड इन्हीं का साथ दे रहा मध्यवर्ग

तुम जला गये हो जो मशाल

बन गया आज वह ज्योति-स्तम्भ

कोने कोने में बढ़ता ही जाता है किरनों का पसार

लो, देखो अपना चमत्कार !

मैंने अपने मित्र से कहा, 'इन दोनो चित्रों की रेखाएँ एक-दूसरे के बहुत समीप है। दोनों चित्रो का बहुत बड़ा महत्त्व है—बहुत बडा सन्देश।'

बनारसीदास चतुर्वेदी

जो स्वयं बैसाखी के सहारे चलने पर मजबूर हो, वह भला किसी को क्या सहारा देगा, यह बात जोर देकर कही जा सकती है। पर मुझे एक ऐसे व्यक्ति का स्मरण आ रहा है जिसने बैसाखी के सहारे चलने पर मजबूर होकर भी बनारसीदास चतुर्वेदी के लिए बैसाखी बनने से कभी सकोच नही किया था। मेरा सकेत स्व० ब्रजमोहन वर्मा की ओर है। फेफड़े मे अट्टहास के लिए गुंजाइश नहीं, फिर भी वह खूब कहकहे लगाते, उस समय उनकी आँखे चमक उठतीं। यह चमक सदैव किसी सूझ का पता देती। यही सूझ 'विशाल भारत' की वास्तविक शक्ति थी, जिसके सम्पादक थे बनारसीदास चतुर्वेदी और सहकारी सम्पादक थे ब्रजमोहन वर्मा।

कोई और सम्पादक होता तो शायद कभी इतने खुले शब्दों में यह स्वीकार न करता कि उसके पत्र की सफलता का ७५ प्रतिशत श्रेय उसके सहकारी सम्पादक को मिलना चाहिए। पर बनारसीदास चतुर्वेदी ने सर्वप्रथम वर्मा से मेरा परिचय कराते हुए इस बात का विशेष रूप से उल्लेख किया था।

बल्कि उसके पश्चात् कई निजी पत्रो मे भी उन्होने यह बात दोहराई कि काम तो सब वर्मा करते है और श्रेय मिलता है चौबे को।

एक चित्र का स्पर्श करते ही दूसरा चित्र स्वयं सजग हो उठता है। चौबे और वर्मा स एक-साथ भेट हुई थी। उन्हे इतना हँसमुख और स्नेहशील देखकर मैने कहा, 'विशाल भारत' के लिए मैने बहुत पहले से लिखा होता, यदि इसमे घासलेट साहित्य के विरुद्ध आदोलन न शुरू किया गया होता। इससे मैने महसूस किया कि 'विशाल-भारत' का सम्पादक तो कोई बहुत भयानक प्राणी है।'

वमा हॅसकर बोले—'मै तो भयानक नहीं हू, चौबे भले ही भयानक हो।'

मैने कहा, 'यदि केवल एक ही आदमी भयानक हो तो कोई मुकाबला भी कर सकता है, पर जब दो-दो आदमी एकसाथ भयानक हा तब तो पत्र के प्रति किसी भी लेखक के हृदय मे इसके लिए लिखने की प्रवृत्ति नहीं जग सकती।'

इसके उत्तर मे वर्मा हॅसकर कह उठे, 'चौबेजी घासलेट-साहित्य के विरुद्ध होते हुए भी ग्राम-साहित्य मे इसकी थोड़ी-बहुत इजाजत अवश्य दे सकते है।'

'पर 'विशाल-भारत' मे उसका प्रकाशन तो निषिद्ध ही रहेगा ना!' मैने गम्भीर होकर कहा।

'नहीं तो', वर्मा ने मुझे प्रोत्साहित करते हुए कहा।

मैने देखा कि चौबे जिसे अपना कह देते हैं, फिर उसे पूरा सहयोग देने का आदर्श ही अपने सम्मुख रखते हैं। फिर भी आज जब 'विशाल-भारत' के साथ अपने संम्पर्क का लेखा-जोखा करने बैठता हूं तो यही कहने को मन होता है कि वर्मा न होते तो शायद चौबेजी के हृदय के तार इतने मधुर-स्वरों

मे कभी झंकृत न हो उठते।

मुझे यह स्वीकार करने से इनकार नही कि मैंने चोर-द्वार से 'विशाल-भारत' के भीतर प्रवेश किया था। यदि मेरी लेखनी का विषय 'लोकगीत' न होकर कुछ और होता तो कदाचित् मै न चौबे का आतिथ्य प्राप्त कर पाता, न वर्मा का। शुरू-शुरू मे जब भी 'विशाल-भारत' मे मेरा कोई लेख प्रकाशित हुआ, मुझे ऐसा प्रतीत होता कि चौबे और वर्मा ने एक-साथ मेरे भिक्षा-पात्र मे दयापूर्वक एक-दो कौर अन्न डाल दिया है। हालाकि बहुत दिनो बाद चौबे ने 'विशाल-भारत' मे एक लेख लिखा, जिसमे मेरे कार्य की कुछ इस प्रकार चर्चा की थी, जिससे पाठक भली-भांति समझ ले कि 'विशाल-भारत' ने एक लोकगीत-संग्रहकर्त्ता पर कोई अहसान नहीं किया, बल्कि इस लोकगीत-संग्रहकर्त्ता ने ही 'विशाल-भारत' पर उपकार किया है। फिर भी मेरा सिर घमण्ड से घूम नहीं गया था।

सन् १६३२ मे चौबेजी से सर्वप्रथम भेट हुई। दो वर्ष पश्चात् जब वे एक बार कलकत्ता मे मुझे बापू से मिलाने ले गये तो मैंने समझा कि मेरा जीवन धन्य हो उठा और 'विशाल-भारत' मे प्रकाशित मुझे मेरे लेखों का दोहरा पारिश्रमिक मिल गया। बैसाखी के सहारे चलने वाले वर्मा भी साथ थे। 'विशाल-भारत' दफ्तर का पुराना चपरासी रामधन भी साथ था—जिसकी बाते सुनकर सदैव यह अनुभव होता कि विश्व-विद्यालय की टकसाल से निकले हुए सिक्कों के मुकाबले मे कुछ अशिक्षित लोग भी इतने सुसंस्कृत हो सकते हैं कि बड़े-बड़े शिक्षित भी नतमस्तक हो जायॅ।

हां, तो बापू की किसी बात की चर्चा करते हुए चौबे जी बोले—'बापू, मै 'विशाल-भारत' मे अनेक बार आपका विरोध

किया करता हूं।'

बापू ने झट पूछ लिया, 'पर बनारसीदास, तुम्हारा 'विशाल-भारत' कोई पढ़ता भी है ?'

वर्मा ने मेरे कान मे कहा, 'अब चौबे कुछ उत्तर नहीं दे सकेंगे। हमारे ऊपर उनका रोब जमा हुआ है ना। बापू पर तो उनका कोई रोब नही जम सकता।'

रामधन ने भी वर्मा की बात सुन ली थी। वह भी मेरे समीप होकर कह उठा, 'चौबेजी हरेक के सामने तो ज़ोर से बात नही कर सकते।'

× × ×

सन् १६३८ मे वर्मा बीमार हो गये और विशाल-भारत का कार्य अकेले चौबेजी के बस का रोग नही रह गया था। कुछ और कारणो से भी उनका मन कलकत्ता से ऊब गया था। अतः विशाल-भारत के सम्पादन का भार सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन को सौंप कर चौबेजी टीकमगढ़ चले गये।

मै उन दिनो कलकत्ता मे था। कुछ महीनो के बाद चौबेजी कलकत्ते पधारे तो उन्होंने अचकन पहन रखी थी। पूरे रियासती मुसाहिब नज़र आ रहे थे।

मैंने उन्हें अपने यहां भोजन के लिए आमन्त्रित किया। उन्होंने इस शर्त्त पर आना स्वीकार किया कि मैं एक-न-एक दिन अपनी पत्नी के लिए सोने के कंगन अवश्य बनवा दूॅ।

चौबेजी ने मेरी पत्नी के सम्मुख स्पष्ट-शब्दों में कहा था, "मैं अपनी देवी जी की सेवा नहीं कर पाया था। वह बेचारी प्रतीक्षा करते-करते चल बसी। यह बात मुझे अब तक खटकती है। इसीलिए मैं अपने मित्रों को कहता हूं कि वह काम करो जिससे पीछे आयु भर पछताना न पड़े।'

मैंने कहा, 'चौबेजी, अब आपकी बात समझ में आगई।

इसमे तो मेरा ही लाभ है। मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि अपनी देवीजी के लिए सोने के कंगन अवश्य बनवा लूंगा।'

इतने वर्ष बीत गये। अभी तक मै अपनी प्रतिज्ञा पूरी नहीं कर सका। सोचता हू, दोबारा कभी अवसर मिलने पर कैसे चौबेजी को आमन्त्रित कर पाऊंगा।

चौबे जी ने टीकमगढ से 'मधुकर' का सम्पादन आरम्भ किया और इस प्रकार फिर से पत्र-कला की गद्दी विराजमान हुए। पर सच पूछो तो वे 'विशाल-भारत' का रग नही जमा सके। यों 'मधुकर' की फाइलों से भी चौबेजी का व्यक्तित्व झलकता है।

आखिर टीकमगढ़ रियासत ही तो थी। हालांकि यहां के महाराज, जिन्हे हिन्दी-साहित्य से विशेष अनुराग है, चौबेजी के शिष्य होने के नाते कभी नहीं चाहते थे कि 'मधुकर' का प्रकाशन बन्द कर दिया जाय। पर एक दिन सबेरे की चाय पीते समय चौबेजी ने फैसला किया कि 'मधुकर' के प्रकाशन की कोई आवश्यकता नहीं।

जहां तक लोकगीतों का सम्बन्ध है, चौबेजी ब्रज के गीतों को बुन्देलखण्ड के गीतो से कही अधिक सुन्दर मानते है। पर उसे कुछ समय का फेर ही कहना होगा कि चौबेजी का मन बुन्देलखण्ड मे अटक गया है।

स्वतन्त्रता के आते ही देशी राज्यों में भी अनेक परिवर्त्तन हुए। बहुत दिनो से चौबेजी टीकमगढ़ छोड़ देने की बात पर विचार कर रहे थे। पर अब शायद वे वही रहने का निश्चय कर चुके हैं।

अच्छा होता कि वे बुन्देलखण्ड छोड़ कर फिर से 'विशाल-भारत' मे आ जाते। इससे कदाचित् 'विशाल-भारत' मे फिर से नया जीवन आ जाता।

सोचता हू, उन ट्रकों का क्या बना, जिनमे अनेक महा-पुरुषो के पत्र तथा अन्य सामग्री सग्रह करने का श्रेय चौबे जी को प्राप्त है। चौबेजी अनेक पुस्तके लिखना चाहते है। कब लिखी जायगी उनकी प्रथम पुस्तक ?—कौन भाग्यशाली प्रकाशक इसे प्रकाशित करेगा ?

चौबेजी को कोई बन्धन नही सुहाता। कदाचित् जम कर लिखने का बन्धन भी उन्हे स्वीकार नहीं। इसीलिए न वे अब तक स्वर्गीय गणेशशकर विद्यार्थी पर कोई पुस्तक लिख सके, न स्वर्गीय महावीरप्रसाद द्विवेदी पर।

यों चौबेजी के अनेक लेख प्रकाशित हो चुके है। कोई चाहे तो इनके सुन्दर संग्रह प्रस्तुत कर सकता है। मेरा मन खीझ उठता है। चौबेजी इस ओर से इतने उदासीन क्यों है।

जब वे 'विशाल भारत' छोडकर टीकमगढ़ गये तो उन्हे फोटोग्राफी का शौक लगा। इस दिशा मे कुछ प्रोत्साहन उन्हे मुझ से भी मिला। थोडे ही समय मे वे अच्छी फोटो खींचने लगे। सोचता हू अपने कैमरे के करिश्मा को भी उन्होंने ट्रन्क मे भर दिया होगा। उस ट्रन्क को हवा लगेगी या नहीं ?

कोई कैसे चौबेजी के कान मे जाकर कहे—'क्या आप ही दस वर्ष तक 'विशाल-भारत' के सम्पादक थे ? और क्या आज फिर 'विशाल-भारत' को आप जैसे सम्पादक की आवश्यकता नहीं ?'

यात्री के संस्मरण

मैं यह बात मान कर चलता हूँ कि हर कोई यात्री नहीं बन सकता। जिस के कानो के पर्दे खुले हों और जिसे पथ की पुकार सुनाई दे सकती हो उसे ही यात्रा का ठीक-ठीक रस आ सकता है।

यात्री से कोई कहे कि एक रात के लिए यहीं रुक जाओ तो उसे रुक जाना चाहिए। आगे तो चलना ही होता है। आज नहीं तो कल सही। ऐसी भी क्या जल्दी है। अच्छा है यदि रुक कर किसी एक स्थान को एक बार, नही, दो बार बल्कि तीन बार देख लिया जाय।

यात्री का गीत भी तो अन्य व्यक्तियो के गीत से भिन्न होता है। रात्रि के अन्धकार मे जैसे आकाश के किसी सुदूर कोने मे कोई तारा चमक उठता है, ऐसे ही यात्री का गीत भी उसका पथ-प्रदर्शन करता है।

एक के पश्चात् दूसरी, फिर तीसरी, चौथी, पॉचवी—एक यात्रा पर जाने कितनी यात्राओं की तहे चढ़ती चली जाती है। मजा तो जब है कि प्रत्येक तह की एक-एक बात याद रहे।

जब पहाड़ी प्रदेश मे पहली बार बादाम के पुष्प खिलते हैं,

कन्याएं रतजगा करती है और इस प्रकार खुले हृदयों के साथ वसन्त का स्वागत करती है। पर वसन्त तो प्रतिवर्ष आता है। प्रत्येक वसन्त की बात याद रहे, मजा जब है। यही दृष्टिकोण यात्री का होना चाहिए। उसकी स्मृति मे यदि प्राण नहीं तो उसकी यात्रा भी व्यर्थ है।

एक स्वर से गीत की रचना असम्भव है। इसके लिए एक से अधिक स्वर आवश्यक है। हां, एक बात नितान्त सत्य है। एक स्वर से पूरे गीत का निर्माण नहीं होता, पर कोई एक स्वर पूरे गीत का नाश अवश्य कर सकता है। यही दृष्टिकोण यात्री का भी होना चाहिए। अपने स्थान पर प्रत्येक स्वर का महत्त्व है। प्रत्येक रंग भी अपने स्थान पर शोभा को बढ़ाता है। एक से अधिक रेखाओं से काम लेना होगा। एक से अधिक रगों को तूलिका की नोक पर थिरक उठने दो। प्रत्येक यात्रा का अपना रग होता है। पिछली यात्रा का रग अब की यात्रा के रग के नीचे दबने न पाये, यह ध्यान रहे। पिछली यात्रा की रेखाएं भी आवश्यक थीं, पर अब की यात्रा की रेखाएं भी कुछ कम आवश्यक नहीं।

अभी मां का हृदय वात्सल्य से उमड़ आया। साथ ही शिशु के लिए उसके वक्षस्थल में दूध का झरना भी फूट निकला। यह कैसी स्नेह-गाथा गाई जा रही है लोरी के स्वरों मे? यह लोरी थमने न पाये। यह यात्रा भी थमने न पाये।

यात्रा से रक्त मे नवीन जीवन तो आता ही है, प्राणों मे एक नई स्फूर्त्ति भी आती है, यात्री के सम्मुख धरती अपना हृदय खोल देती है।

अपनी यात्राओं मे मै अनेक प्रकार के व्यक्तियों से मिला। उन मे बहुसंख्या ऐसे व्यक्तियों की है जो विख्यात नहीं हैं। ऐसे ही एक सज्जन ने अभी उस रोज एक गान छेड़ दिया था—

ई मटकी मां सोया कोदों
ई मटकी मां मडुआ
अपन अपन टिकुरि सम्हार मेहररुआ
बाज़रिया मा आइलबा चोर !

यह गान मुझे बहुत सुन्दर लगा। इसका सौंदर्य-बोध मेरे लिए अपार आनन्द की बात कह गया। ये लोग जो सोया, कोदों और मडुआ खा कर रह जाते है, उनके यहा भी सौंदर्य खिलता है। और जब सौंदर्य और यौवन का मेल होता है, और उस पर भी गाव की युवा-बधुएं माथे पर टिकुरी का शृंगार करती है तो एक नया ही प्रेरणामय दृश्य उपस्थित हो जाता है। ऐसे मे जाने यह चितचोर कहां से इस बाजार मे आ निकला ! कवि प्रत्येक रमणी से कहता है, अपनी-अपनी टिकुरी सम्भाल लो, यह चोर जाने किस-किस की टिकुरी उतारने का कारण बने। जिसने यह गान सुनाया, उसका नाम मुझे याद रखना चाहिए। किसी और यात्री का ऐसे ही किसी रसिक से परिचय हो तो उसे भी उसकी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। समय का चक्का तो घूम रहा है। थोड़ा रुक जाय, तो मै इस युवक का पूरा रेखा-चित्र ही प्रस्तुत कर सकता हूँ। सोचता हू, क्या रुक्मणि अरण्डेल का रेखा-चित्र इस अज्ञात युवक के रेखा-चित्र से अधिक मनोरंजक होगा। श्रीमती अरण्डेल ने भारत नाट्य मे 'नये प्राणों' का सचार किया है। क्यो न एक साथ दो रेखा-चित्र प्रस्तुत कर दिये जांय। मुकाबले की बात ही मे क्यो उलझ कर रह जाऊँ ?

प्रसिद्ध चित्रकार देवीप्रसाद राय चौधरी उमर खैयाम के रंग मे बैठे थे। यह आर्टस्कूल की प्रदर्शिनी का अन्तिम दिन था। प्रदर्शिनी के समय अन्तिम दो घन्टे शेष रह गये थे। मुझे देखते ही उन्होंने शान्तिनिकेतन पर व्यंग्य कसने शुरू किये।

यह उनकी आदत है। इतने में कुछ महिलाओं ने प्रवेश किया–चित्रकार ने उन्हें कनखियों से देखा और मुझ से कहा, 'घुमक्कड़ महोदय, तनिक उधर घूम जाओ। आखिर मैं कब तक इस घनी दाढी पर जी सकता हूं। उस सुन्दर दृश्य से यह दाढ़ी मुझे वंचित क्यों रखे !' इसे केवल एक चुटकुला मत समझिए। यात्री के दृष्टिकोण से इसी पर पूरा निबन्ध लिखा जा सकता है। पर यात्री का ध्यान भी तो घूम रहा है।

हरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय से दक्षिण की यात्रा मे भेंट हुई। पहले केवल उनकी कविताए पढ़ने को ही मिली थी। इधर साक्षात कवि के दर्शन हुए। उन्होंने मुझसे अनेक प्रश्न पूछे। दिन के समय उनका रूप और था, रात्रि को और। जब वे रंगमच पर कवि और अभिनेता के रूप मे उपस्थित हुए, इस पर भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। पर यहां इस के लिए अवकाश कहाँ ? लाहौर मे उन से दोबारा भेंट हुई थी। फिर तीसरी बार दिल्ली मे भेंट हुई, जब रेडियो स्टेशन के समीप वे कार रोक कर फुटपाथ पार आ गये और उन्होंने मुझे अपनी बाँहों मे भींच लिया।

मदरास मे एक ओर ब्रजनन्दन शर्मा, भैरवप्रसाद गुप्त और प्रेमनाथ शांडिल्य से भेंट हुई। एक ग्रुप-फोटो का प्रबन्ध किया। इन तीनों हिन्दी-प्रेमी मित्रों को सन्देह था कि मुझे उन के नाम भूल जायँगे। अब मैं कैसे उन्हे विश्वास दिलाऊँ कि मेरे मन के कलाजीवन मे उनके चित्र भी सुरक्षित हैं और उनके नाम भी।

मदरास नगरी में ही जगन्नाथन (सम्पादक, प्रसिद्ध तामिल पत्रिका 'कलामहल') और का० श्री० श्रीनिवासाचार्य से भेंट हुई। जगन्नाथन ने प्रतिज्ञा की कि तामिल लोकवार्त्ता पर एक पुस्तक लिखेगे। पिछले दिनों उन्होंने यह प्रतिज्ञा पूरी करते हुए अपनी सत्यप्रियता का प्रमाण दिया। का० श्री०

श्रीनिवासाचार्य ने तामिल लोकगीतों के अनुवाद के कठिन कार्य मे मेरा हाथ बटाया। मै उन के यहां जाता तो चाय या काफी तो मिलती ही, साथ ही कुछ-न-कुछ पकवान भी। सोचता कि इस आतिथ्य का उत्तर देने का सुअवसर कब प्राप्त होगा। फिर जब हम डट कर अनुवाद-कार्य पर जम जाते, कहीं आधी रात के बाद तक यह कार्यक्रम जारी रहता। किस बही मे उसका लेखा-जोखा रखा गया होगा!

ऐसे अनेक चित्र यात्री के संस्मरणों को जाग्रत बनाये रहते हैं। ऐसा ही एक चित्र विलियम जी० आर्चर का समझिए। आर्चर महोदय अनेक वर्षो तक दुमका (सन्थाल परगना) मे डिप्टीकमिशनर रहे। उनसे पत्र-व्यवहार द्वारा मेरा परिचय था। आदिवासियों की लोक-कविता और कला के इस अनन्य पारखी के लिए मेरे हृदय मे अगाध-प्रेम था। एक दिन मित्रवर वासुदेवशरण अग्रवाल से पता चला कि आर्चर दिल्ली मे हैं और तीसरे पहर तक सेंट्रल एशियन एंटिकिटी म्यूजियम मे आयेंगे। मै अचानक वहां पहुंचा और अग्रवाल ने मेरी ओर संकेत करते हुए मेरा नाम लिया। बस क्या था। आर्चर ने मुझे अपनी भुजाओं के पाश मे बॉध लिया। सचमुच वह दृश्य देखने योग्य था। कोई फोटोग्राफर तो था नही कि चित्र को सदैव के लिए सुरक्षित कर देता। चित्र लेने की व्यवस्था अगले दिन की जा सकी। आर्चर का उक्त हास दो अन्तर्राष्ट्रीय मित्रो के लिए बड़े गर्व की वस्तु है।

जिनसे मानवता की मगल-कामना अग्रसर हो, ऐसे चित्र सद्वृत्तियों की विजय-यात्रा के प्रतीक होते हैं। यात्री के सस्मरणों मे ऐसे ही चित्रों के लिए स्थान होना चाहिए।